भारतका आदि सम्राट्

लेखक:—

निखिलतन्त्रस्वतन्त्र, शास्त्रार्थ केसरी, व्याख्यान-वाचस्पति

पूज्य १०५ श्री क्षुल्लक

स्वामी निजानन्द (कर्मानन्द) जी महाराज

प्रकाशक—

दिगम्बर जैन समाज मुलतान।

(वर्तमान में देहली)

चतुर्थवार १००० | वीर सं० २४७६ वि० सं० २००६ | मूल्य एक रुपया

प्राक्कथन

श्री स्वामी कर्मानंद (स्वा० निजानन्द) जी

और उनका कार्य

यह शायद १९३४ की बात है। मैं 'विकास' के 'आर्यसमाज अंक में जाने वाले लेखादि देख रहा था। उनमे स्वा० कर्मानन्द जी का भी एक लेख था—'जैन धर्म और वेद'। एक प्रचारक के रूप में मैंने उनका नाम सुन रक्खा था, पर इस लेख मे प्रचारक की संकीर्णता के स्थान में सर्वत्र सौन्दर्य दर्शन की भावना के साथ विविध प्रवृत्तियो का ऐसा सुन्दर सामञ्जस्य था कि मै प्रभावित हुए विना न रहसका। उसके बाद तो अनेकबार उनसे मिलने एवं विविध विषयों पर विचार-विनिमय करने का अवसर मिला है और सदा ही मैंने अनुभव किया है कि उनका अध्ययन बहुत व्यापक है। इनके अध्ययन का मुख्य विषय धर्म और इतिहास रहा है।

बहुत से ग्रन्थ पढ़ डालना एक साधारण बात है, पर स्वामी जी के अध्ययन की दो असाधारणताएं हैं, पहली यह है कि वे अध्ययन से पूर्व कोई सम्मति निर्धारित करके आगे नहीं चलते जिससे कि अपने हृदय का भार बलात् अध्ययन पर लादना पड़े और दूसरी यह कि वे उस अध्ययन पर अपने दृष्टिकोण से स्वतंत्र विमर्श करते हैं, उनकी जांच पड़ताल करके मौलिक निष्कर्ष निकाल सकते हैं। इस प्रकार जो निष्कर्ष निकलता है, वे उसे मानते हैं, उस पर लिखते हैं, पर यदि बाद का अध्ययन

उन्हें इधर उधर करता है तो वे उससे भी घबराते नहीं हैं। उनके स्वभाव की इस उदारता का आधार उनकी राष्ट्रीय मनोवृत्ति है, जो उन्हें राष्ट्र और धर्म का समन्वय करके साथ साथ चलने की क्षमता देती है। वे पक्षपात से हीन, बनावट से दूर, मूक सेवा के विश्वासी, एवं सरल स्वभावके संन्यासी हैं, जो कहीं बंधा हुआ नहीं है, पर सर्वत्र बंधा हुआ है। उन के 'विराग' का अर्थ 'विशिष्ट राग—विश्वात्मा के प्रति असंकीर्ण कोमलता है। इस प्रकार वे एक साधु भी है और इतिहास के एक विनम्र विद्यार्थी भी हैं।

'स्याद्वाद, कर्मफिलासफी और आत्म-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्तो की त्रिवेणी मे स्नान कर वे आज' 'जिनधर्म' कल्पतरु की शीतल छाया मे आकर खड़े है, उसी शान्त मुद्रा मे, निर्विकार भाव से और बन्धन हीन। महावीर जयन्ती के अवसर पर महावीर सन्देश के नाम से अपना जो भाषण उन्हो ने ब्राडकास्ट किया था, वह इस बात का प्रमाण है कि वे धर्म को विशुद्ध जीवन तत्व की दृष्टि से देखते हैं—उसके वाह्यविस्तार मे फंस कर ही नहीं रह जाते।

उनके अध्ययन के फलस्वरूप राष्ट्र भाषा को उनकी कई पुस्तकें प्राप्त हैं। उनमे परिस्थितिवश एवं सामयिक चीजों को छोड़ कर वैदिक ऋषिवाद, सृष्टिवाद, "भारत का आदि सम्राट" और धर्म के आदि प्रवर्तक, कर्मफल कैसे देते हैं, का नाम उल्लेखनीय है। पहली पुस्तक में मन्त्रसृष्टा ऋषियों का अनुसन्धान है। यह स्वामी जी के वैदिक साहित्य सम्बन्धी अध्ययन का सुन्दर फल है। खोज के कार्य में मतभेद होना स्वाभाविक है, पर संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित श्री डा० गंगानाथ झा एम० डी० लिट (वायस

चान्सलर प्रयाग विश्वविद्यालय) के शब्दों में 'वैदिक ऋषिवाद एक निष्पक्ष, गवेषणात्मक पुस्तक है,। दूसरी पुस्तकों के सम्बन्ध में भी इसी तरह की सम्मति दी जा सकती है, इसमें मुझे सन्देह नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक में आपने राष्ट्र के भारतवर्ष इस नामकरण की विवेचना की है। वह कौन 'भरत' है, जिसके नाम के साथ इस ३५ करोड़ पुत्रों की जननी भारतमाता का नाम नत्थी है? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है और इस पर अनेक ऐतिहासिक विद्वान विचार कर चुके हैं। स्वामी जी का निष्कर्ष इस विषय में अन्तिम है, यह कहना तो स्वयं स्वामी जी भी नहीं चाहेंगे, पर मैं इतना कह सकता हूं कि स्वामी जी ने आज तक की इस विषयमें प्रचलित परम्पराओं की दीवारों को लांघकर अनुसन्धान के दूर वीक्षण से बहुत दूर तक झांका है और एक नई सृष्टि खड़ी की है। दूसरे शब्दों में भारतीय इतिहास के पण्डितों और विद्यार्थियों का एक नये दृष्टिकोण पर विचार करनेका यह आमन्त्रण है, ऐसा आमन्त्रण जिसमें अपनी भारतमाता के प्रति श्रद्धा है, अनुसन्धान की उत्कण्ठा है और विचारविनिमय की तत्परता है।

मेरा विश्वास है कि इस विषय में दिलचस्पी रखने वाले विद्वान न केवल इस आमन्त्रण को सुनेंगे ही किन्तु इसे स्वीकार भी करेंगे। विद्वान लेखक के साथ मेरी भी कामना है कि अनेक धर्मों एवं संस्कृतियों की जननी भारतमाता इस अध्यवसाय से प्रसन्न हो।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर,

सम्पादक—विकास

तदनन्तर

प्रस्तुत पुस्तकके विद्वान लेखक श्री १०५ निजानन्दजी (पूर्व नाम स्वा० कर्मानन्दजी) जैनसंघके सम्पर्कमें आजाने पर मुलतान (पश्चिमी पाकिस्तानका एक प्रसिद्ध नगर) में अनेक मास रहे और अपने रोचक तात्विक भाषणोंसे वहां पर सत्पथका प्रचार करते रहे उस समयसे मुलतान निवासी दिगम्बर जैन समाज के समस्त व्यक्ति आपसे घनिष्ठ स्नेह करने लगे।

आपका लिखा हुआ "सत्यार्थप्रकाश और जैनधर्म" नामक ग्रन्थ श्रीमान स्व० सेठ सुखानन्द जी तथा उनके उदार सुपुत्र श्रीनिवास जी, शंकरलाल जी ने दो बार प्रकाशित कराया है। अभी गत श्रावणसुदी १५ वीर स० २४७५ वि० सं २००६ को जब स्वामी जी ने क्षुल्लक दीक्षा स्वीकार की तब उस पुनीत दिवसका स्मरण चिरस्थायी रखनेके विचारसे मुलतानके दिगम्बर जैन भाइयोंने जो कि अब देहली तथा जयपुर के निवासी बन गये हैं, प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशित करने की घोषणा की थी। तदनुसार यह पुस्तक चतुर्थ संस्करण के रूप में कुछ संशोधित एवं परिवर्द्धित होकर मुलतान-वालों की ओरसे प्रकाशित हुई है।

—अजितकुमार जैन शास्त्री

—❀—

नमः सिद्धेभ्यः

भारतका आदि सम्राट्

भारत

हम सदियोंकी गुलामीके पश्चात आजाद हुए एवं पराधीनताका शाप समाप्त हुआ। अतः ता० १८ सितम्बर सं० १९४९ को हमारी विधानपरिषदने इस देशका नाम 'भारत' स्वीकार कर लिया। इस देशका यह नाम अति प्राचीन समयसे है, अतः इस देशका ऐतिहासिक महत्व तो है ही, साथ ही यह नाम हमारे गौरवका भी कारण है।

इस देशके नाम—

इस देशके अनेक नाम हैं, उन सबमें 'भारत' ही सबसे प्राचीन नाम है। यथा—

(१) सप्तसिन्धु—इस देशका प्राचीन नाम सप्तसिन्धु मिलता है। ऋग्वेद तथा उसके पश्चात कालीन वैदिक साहित्यमें भी

यह नाम आया है। पारसियोंकी धर्मपुस्तक 'जेन्दावस्था' में इसीको 'हप्तहिन्दु' कहते है, परन्तु यह नाम सम्पूर्ण भारतका नहीं था, अपितु भारतके उत्तर पश्चिमके एक भागका नाम था।

(२) आर्यावर्त—इस देशका दूसरा नाम 'आर्यावर्त' था। बौधायन स्मृति तथा मनु-स्मृतिमे इस नामको अधिक महत्व दिया गया है, परन्तु वैदिक-साहित्यमे इस नामका उल्लेख देखनेमें नहीं आया, अतः प्रतीत होता है कि यह नाम स्मृति-काल मे प्रसिद्ध हुआ।

(३) हिन्दुस्तान:—यह 'सिन्धु' का अपभ्रंश नाम है एवं विदेशी लोगोंका रक्खा हुआ है।

(४) इण्डिया—यह भी विदेशी आक्रान्ताओंका रक्खा हुआ नाम है। सबसे प्रथम यूनानी लेखक 'हेरीडोटस' ने इस नामका उल्लेख किया है।

इनमे से 'हिन्दुस्तान' और 'इण्डिया' ये दो नाम हमारी हीनताके बोधक है, क्योंकि ये नाम हमारे ऊपर लादे गये थे, हमने स्वय ये नाम अपने देशके नहीं रक्खे थे।

'आर्यावर्त' नाम न तो अधिक प्राचीन ही है और न उपयुक्त क्योंकि यह आर्य जातिका तथा एक धर्मका द्योतक है। इसीप्रकार 'सप्तसिन्धु' न तो सम्पूर्ण भारतका बोध कराता है और न इसका कोई ऐतिहासिक महत्व ही है।

भारत

अब शेष 'भारत' या 'भारतवर्ष' रह जाता है।

देहलीसे निकलने वाले दैनिक पत्र 'हिन्दुस्तान' के ता० २५ सितम्बर सन १९४९ के ८ अंकमे इस विषयमे एक लेख प०

ब्रह्मदत्त शर्माका छपा है, उसमे आपने लिखा है कि "वास्तविक स्थिति यह है कि इस देशका अत्यन्त प्राचीन नाम 'भारत' था, जिसका वर्णन ऋग्वेदके तृतीय मण्डलमे तथा दशवे मण्डलके ७५ वे सूक्तमे हुआ है तथा साथ ही भारतकी मुख्य२ गंगादि नदियोंका भी उल्लेख है। अनन्तर यजुर्वेद और अथर्ववेदमे भारतके मुख्य २ प्रान्तोंका निर्देश भी मिलता है।" अन्तमे आप लिखते है कि

'वेदोंसे लेकर दूसरी शताब्दी तक नि.सन्देह एवं बारहवीं शताब्दी तक विकल्परूपसे इस देशका अन्य देशोंमे 'भारत' या 'भारतवर्ष' नाम प्रसिद्ध था।

अनन्तर मुसलमानोंने इसे 'हिन्द' या 'हिन्दुस्तान' कहना प्रारंभ किया और यूनानियोंने 'इण्डिया' की उपाधि दी। यही, नहीं, पाश्चात्योंने इस देशके नामका जो व्यंगार्थ किया और हमे पतित समझा, उसका निराकरण अपना प्राचीन-पुराना-नाम ग्रहण किये बिना नहीं होसकता था।

'भारतवर्ष' की अपेक्षा 'भारत' नाम कुछ संक्षिप्त है और प्राचीन भी। परन्तु तो भी विद्वानोंको इस संशोधनकार्यमे प्रवृत्त होना चाहिये।

आज हमे देशका नाम 'भारत' और अपनेको भारतीय' कहलानेमे कितना गौरवानुभव होरहा है, उसे लिखनेमे लेखिनी समर्थ नहीं। उदारता, वीरता और उत्साहकी चरम-सीमा इस नाममे लक्षित ही नहीं होती, विद्यमान भी है और यह बहुत बड़ी सफलता है।" इसीप्रकार ता० २० मार्च सन १९४९ के 'हिन्दुस्तान' मे प्रोफेसर 'इन्द्र' एम० ए० ने लिखा है कि—

"हमारे लिये 'भारत' से बढ़कर और कोई सुन्दर नाम इस देशका नहीं बन सकता। इस शब्दकी ऐतिहासिकता पर हम

पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं। यह नाम वैदिक कालसे भरत नामक जातिके द्वारा, जो हमारी पूर्वजतम जाति है, रक्खा गया है।

उन्होंने इस देशको बसाया और इसे सभ्यता तथा संस्कृति प्रदानकी, उन्हींके नाममें सच्चा गौरव होना चाहिये। जैसे एंग्लो-सैक्सन जातिका नाम इङ्गलेण्डमें कृतज्ञता-पूर्वक सुरक्षित रक्खा गया है इसी तरह भारतमें अपने देशकी आदिम-संस्थापिका जातिका नाम सुरक्षित रखना उचित है।

इसकी सार्थकता ऐतिहासिक-दृष्टिके अलावा भी सर्व-सम्मत है। पौराणिक-साहित्यमें 'भारत' शब्दका प्रयोग 'आर्यावर्त' की तरह किसी सीमित प्रदेशके लिये नहीं किया गया—अपितु समूचे देश, जिसे हम आज अपना स्वतन्त्र राष्ट्र समझते हैं, के लिये प्रयोग किया गया है।"

इसी प्रकार आपने यहाँ स्पष्ट लिखा है कि "भरत नामसे वैदिक कालमें जिस जातिका वर्णन मिलता है, उसीने इस देशमें अपना प्रभुत्व स्थापित करनेके बाद इस देशका नाम भारत रक्खा।

ऋग्वेदमें इस 'भरत' जातिकी विशेष चर्चाकी गई है तथा यजुर्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थोंमें भी इस जातिका वर्णन आया है।"

भारतवर्ष

हमारे देशके लिये भारतवर्ष शब्दका प्रयोग काश्मीरिक आनन्द वर्धनके ध्वन्या लोकमें मिलता है—

रतिर्हि भारतवर्षो चितेनैव व्यवहारेण दिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थिति.।

आनन्द वर्धनके पूर्व कालिक बाण भट्ट इस समय देशका नाम भारतवर्ष समझता है —

इतश्च नातिदूरं तस्यास्मद्भारतवर्षा दुत्तरेणानन्तरे
किम्पुरुषनाम्नि वर्षे वर्ष–पर्वतो हेमकूटो निवासः।

ये सब ग्रन्थ 'ईसा' से पूर्वके है। इसी प्रकार सम्राट् खारवेलके हाथी गुफा वाले शिला लेखोंमे भी इस देशका नाम 'भारत' लिखा है। अत यह सिद्ध है कि वैदिक कालसे आज तक इस देशका नाम 'भारत' अथवा 'भारतवर्ष' सुप्रसिद्ध है।

भारतवर्ष की प्राचीन सीमा

वैदिक साहित्यमे इस पुण्य-भूमि का नाम पृथ्वी, भारती आदि लिखा है। पृथ्वी नाम इसका पृथु महाराजके नामसे हुआ तथा भारती भरतके कारण। ये पृथु और भरत दोनों सूर्यवंशी थे। इसी अभिप्रायको लेकर निरुक्तकार कहते है कि—

भरतः आदित्यस्तस्य भा भारती।

अर्थात् भरत सूर्य है उसीकी शोभा (कीर्ति) यह भारती अर्थात् भारत है। निरुक्तकार के मतमें भरत और सूर्य एकार्थवाचक शब्द है। वास्तवमे है भी ऐसा ही। इन्हीं भरतके नामसे दो वंश चले एक सूर्यवंश तथा दूसरा भरतवंश। वैदिक साहित्यमे भारती नाम इसी देशका है। इसके लिये हम वैदिक प्रमाण उपस्थित करते है। अथर्व वेद कां० ५ सू० २७ मन्त्र ९ में लिखा है कि—

मही भारती गृणाना

यहां इडा, सरस्वती तथा भारती इन तीनो देवियोंका वर्णन

है। इडासे अभिप्राय इलावत देश अर्थात् हिमालयके उत्तरका देश है। वहींसे पुरुरवा भारतमे आया था इसलिये उसको ऐल कहते थे। बादमे उसके वंशका नाम भी ऐल ही प्रसिद्ध हुआ। सरस्वतीके विषयमें कुछ नहीं कहा जासकता कि यह कौनसी भूमिका नाम है, संभव है जहांसे सरस्वती नदी निकलती थी तथा उसके किनारे पर बसे हुए देशोंका नाम हो। परन्तु वर्तमान जो सरस्वती है इसकी यह व्यवस्था पूर्वमें नहीं थी। पहले समयमें यह मरु भूमिमे कहीं जाकर गिरती थी ऐसा अनेक विद्वानोंका मत है। वैदिक साहित्यमे इस सरस्वतीका विशेष महत्व है। भारती उस भूमि का नाम है जिसको भरत लोगोंने अर्थात सूर्यवंशके प्राचीन भरतोंने आबाद किया था, उसका विवेचन हम आगे करेंगे। उपरोक्त मन्त्रमें जो ये इडा आदि शब्द आये है वे भूमि वाचक है या नहीं इस विषयमे बड़ा मतभेद है। यदि उन सबको लिखा जाये और उनकी समालोचना की जाये तो उसके लिये पृथक् एक ग्रन्थ लिखना होगा। संक्षेपमे हम इतना ही बतला देते हैं कि हमारी सम्मतिमे यहां तथा ऋग्वेद आदिके अन्य स्थानोंमे भी यह शब्द आया है वहाँ सब जगह इससे पूर्व समयके भारतवर्षका बोध होता है। उपरोक्त अथर्ववेदके मन्त्रमे तो 'मही भारती' शब्द ही प्रत्यक्ष है। जिसका अर्थ भारती भू, स्पष्ट है। तथा च यह शब्द इडा, सरस्वती और भारतीके मध्यमे आया है। अतः यह देहली—दीपक न्यायसे तीनोंका विशेषण है। अतः यहा तीन भूमियोंका उल्लेख हैं इसमे सन्देह नहीं। दूसरा प्रमाण निरुक्तकारका है। वह स्पष्ट कहता है (भरतः सूर्यस्तस्य भा भारती) यहाँ भारती का अर्थ भूमि के सिवाय कुछ है ही नहीं। अनेक विद्वानोंने महीका अर्थ महिमा किया है यह उनकी कल्पना मात्र है।

हम इस विषयमे एक यजुर्वेदका प्रमाण भी उपस्थित करते है।

अस्पृक्षद् भारती दिवम।--यजुर्वेद अ० २८, मं० १८।

अर्थात् भारती दिव--द्यु लोकका स्पर्श करती है। यहां इसकी सीमा बतलाई है। संभवत. यह कैलाशका सबसे ऊँचा प्रदेश इसकी एक सीमा थी। इसी लिये कहा है कि यह आकाशको छूती है। वास्तवमे दिव, द्यु आदि शब्द इलावर्त देशके नाम है। बस भारतवर्षकी सीमा उत्तरीय हिमालयकी सीमाके पास थी। इस मन्त्रका भाष्य करत हुये महीधर लिखत है कि 'भारती दिवंस्पृशति भरतः रविस्तत्कान्तिर्भारती' तथा उवट लिखते है कि 'भरत आदित्य. तस्य इयं भारती दिवंस्पृशति' अर्थात भरत आदित्य है उसकी यह भारती द्युको छूती है आगे चलकर इसी मन्त्रमे आया है कि 'इडावसुमती गृहान्' अर्थात् धनधान्यसे युक्त इडा घरोंको छूती है। इसका अर्थ करते हुए 'उवट' लिखते है 'गृहशब्देनात्राय लोकोऽभिधीयते लक्षणया पृथ्वीस्थानीयत्वादिडाया.' अर्थात् गृह शब्दसे यहाँ इस लोकका विधान है, क्योंकि लक्षणासे पृथ्वी स्थानीय इडा है। इससे अधिक और क्या स्पष्ट हो सकता है। महीधरजो लिखते है कि 'गृह शब्देन भूलोक' यहां भू का अर्थ भारतवर्ष ही है। इसी भारतवर्षका नाम पृथ्वी आगे जाकर हुआ। इसका यह नाम पृथु राजाके कारणसे हुआ। अत. पृथ्वी, भूमि, मही आदि शब्द सब भारतवर्ष-वाचक ही है। तथा च इसी मन्त्रमे लिखा है कि 'रुद्रैर्यज्ञ सरस्वती' अर्थात् सरस्वती रुद्रोंके साथ यज्ञको छूती है।

सरस्वती विवेचन

सरस्वती शब्द वेदमे अनेक अर्थोंमे आया है। यथा वाणी, अमावस्या, नदी, स्त्री, पृषा, रूपा, श्री, पुष्टी, गौ, पृथ्वी इत्यादि। हमारा अभिप्राय केवल पृथ्वी अर्थात देश विशेषवाची सरस्वती शब्दमे है। उसके लिये निम्न प्रमाण है—

एषा वा अपां पृष्ठं तत्सरस्वती (तै० ब्रा० १।७।५।५)

अर्थात्—जलोंके पीठ भागका नाम सरस्वती है।

तथा च अन्तरिक्षं सारस्वतेन अवरुन्धे। शतपथ। १२।८।२।३२

अर्थात् अन्तरिक्ष सारस्वतसे घिरा हुआ है। यहाँ अन्तरिक्षका अर्थ समुद्र ही है क्योंकि वैदिक कोषमे अन्तरिक्ष और समुद्र समानार्थक है। अभिप्राय यह है कि दोनों मन्त्रोंका एक ही अभिप्राय है। सारस्वत और सरस्वती एक वस्तुके नाम है।

इन प्रमाणोंसे तो यह सिद्ध होता है। समुद्रके (तटवर्ती) किसी प्रान्तका नाम सारस्वत अथवा सरस्वती है। अब आगे लिखा है कि सरस्वती यज्ञको छूती है। अत यहां यज्ञका क्या अर्थ है यह विचारणीय है। वैदिकवाङ्मयमे यह यज्ञ शब्द इतना विस्तृत है कि इसका कुछ भी पारावार नहीं है। इसके कई कारण है एक कारण यह भी है कि वेदकी ऋचाये बहुत पुराने समयमे बनने लगी थीं। उन प्राचीन मन्त्रोंका काल सम्भवत ४०००० (चालीस हजार) वर्ष पुराना हो सकता है। तथा इन मन्त्रोंका अन्तिम समय महाभारतसे कुछ पूर्वका है, अर्थात् चौतीस हजार वर्ष तक मन्त्र या सूक्त बनते रहे है। इतने लम्बे समयमें एक शब्दके अनेक अर्थोंका होना कोई असम्भव नहीं है। इसके साथ ही देश-भेद तथा भाषा-भेद

आदि अनेक इसके कारण है, परन्तु यहाँ हमारा यह प्रकरण नहीं है हमे तो यहदेखना है कि यहाँ यज्ञ शब्दका क्या अर्थ है। यजुर्वेद अ० १ मन्त्र ११ में यज्ञ वाचक 'स्व' शब्द आया है। इससे पूर्व मन्त्र ९ में यज्ञ शब्द आया है उसीका यहाँ वर्णन है। 'स्वरभिविख्येषम्' अर्थात् यज्ञको देखो। यहाँ 'स्वः' शब्दके अर्थ महीधर, उवट आदि सभी प्राचीन आचार्योंने यज्ञ ही किये हैं।

तथा च शतपथ ब्रा० कां १।१।२।२१ में भी (यज्ञोवै स्वः)

अर्थात यज्ञका अर्थ 'स्वः' किया है तथा च ऐतरेय ब्राह्मणमें है कि 'अन्तोवै स्वः' (५।२०) अर्थात् पृथ्वीका अन्तिम भाग स्व है। उपर्युक्त सब प्रमाणोंसे सिद्ध है कि सरस्वती अथवा सारस्वत उस देशका नाम था, जो कि समुद्रके किनारे था। सरस्वती शब्द भी इसी अर्थको प्रकट करता है, क्योंकि 'सर' का अर्थ जल प्रसिद्ध है। बस जो विशेष जल वाली भूमि हो उसे सरस्वती कहा है। अत. सरस्वती प्रान्तकी सीमा समुद्र तक थी। अनेक विद्वानोंके मतमे पश्चिम साइबेरिया प्रान्तका नाम स्वः है। हमारा अभिप्राय इतना ही है, कि पूर्वोक्त मन्त्रमें इडा, सरस्वती भारती, आदि शब्दोंके अर्थ प्रान्त या देश विशेष हैं।

तथा च —तिस्रो भूमिनृपते। ऋग्वेद मडल १ सू० १०२ मत्र ८

यहाँ भी तीन भूमियोंका उल्लेख है। तथा—

इला सरस्वती मही तिस्रोदेवी मयाभुवः

ऋग्वेद मं० १।१३।९ यहाँ भी तीन देवियोंका उल्लेख है, परन्तु यहाँ भारतीके स्थानमें मही शब्द आया है, अतः भारती और मही एकार्थक शब्द है, यह सिद्ध होगया।

और यहाँ तिस्रोभुवः शब्द प्रत्यक्ष सिद्ध कर रहा है, कि ये तीन भूमियाँ हैं। क्योंकि तिस्रः का विशेषण भुवः शब्द है।

तथा च– सरस्वती सिन्धुभिः पिन्वमाना। ऋ० ६।५२।६

अर्थात्—सरस्वती समुद्रोंसे प्रकट होती हुई वर्त्तमान है। इससे स्पष्ट है, कि सामुद्रिक प्रान्त (बंदरगाह) का नाम सरस्वती है। यहाँ भी सरस्वती शब्दका अर्थ एक प्रदेशका है। एक बात यह भी विचारणीय है, कि पूर्वोक्त यजुर्वेदके मन्त्रमे आया है, कि 'रुद्रैर्यज्ञं सरस्वती। अर्थात् रुद्रोंके साथ सरस्वती यज्ञको स्पर्श करती है। यहाँ रुद्रमें क्या अभिप्राय है यह भी जान लेना आवश्यक है, क्योंकि रुद्र शब्द भी यज्ञकी तरह ही अनेकार्थक है। इसके लिये हमको ऋग्वेद मं० ५। ४३। ११ देखना चाहिये। वहाँ लिखा है (पर्वतादा सरस्वती) अर्थात् पर्वत वाली सरस्वती। अथवा ब्राह्मण ग्रन्थोंमे रुद्रकी उदीची दिशा है। इसका अभिप्राय हुआ कि उत्तरके पर्वतोंको छूता हुआ जो समुद्रको घेरे हुये प्रान्त था, उसका नाम सारस्वत अथवा सरस्वती था। यह कुरुक्षेत्र वाली सरस्वती भी वेदोंमे है, परन्तु यहाँ तो भूमि विशेषका नाम है—

आभारती भारतीभिः सजोषा इला देवैर्मनुष्येभिरग्निः।
सरस्वतीसारस्वतेभिरर्वाक्तिस्रोदेवीर्बर्हिरेदंसदन्तु ॥

ऋ० ३। ४। ८

आदित्यैर्नो भारती वष्टु यज्ञं सरस्वती सह रुद्रैर्नआवीत।

य० २०। ८

यजुर्वेदके मंत्रमें तो स्पष्ट भारतीका सम्बन्ध आदित्यों-भरतोंसे कहा है। तथा च ऋग्वेदमें स्पष्ट ही 'भारती' और 'भारतीभि:' शब्दसे भरतोंका विशेष सम्बन्ध है। अस्तु अब हमको यह देखना चाहिये, कि भारती (भारत) की वैदिक युगमे कौन कौनसी सीमा थी। उपरोक्त कथनसे इतना तो हमने जान लिया, कि हिमालयके उत्तरकी ओर तो इलावर्त था, तथा उससे आगे पश्चिमी समुद्रको घेरे हुये सरस्वती प्रान्त था। इस इलावृत्तको स्पर्श करती हुई भारत भूमि थी, अर्थात् हिमालयके दक्षिणका भाग भारतवर्ष था। वायु पुराणमें लिखा भी है, कि हिमालयके दक्षिण प्रान्तका नाम भारतवर्ष है—

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणश्चयत्।

वर्ष तद् भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा॥

वायु० पु० अ० ४५। ७५

अर्थात्—समुद्रके उत्तर और हिमालयके दक्षिण देशका नाम भारतवर्ष है। वहांकी प्रजा भारती कहलाती है।

हिमाद्रेः दक्षिणं वर्ष भरताय न्यवेदयत्।

तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधा॥

ब्रह्माण्डपुराण, अ० १४

अर्थात्—(श्री ऋषभदेव जी ने) हिमालयका दक्षिण प्रान्त भरतको दिया। इसलिये इस प्रान्तका नाम भारतवर्ष हुआ, ऐसा विद्वान् लोग जानते हैं। उपरोक्त प्रमाणोंसे हम प्राचीन भारतकी दो सीमाओंका तो पता लगा सके हैं। आगे जानेके लिये हमे विशेष अध्ययनकी आवश्यकता है। इसके कई कारण

हैं, जिससे हम वैदिक भूगोलका पूर्ण ज्ञान अभी तक नहीं जान सके हैं। एक तो समयका परिवर्तन, जिस प्रान्तमे कभी नदियां बहती थीं, आज वहां मरुभूमि है। जैसे कि बीकानेर आदि तथा जहॉं शीतकी प्रधानता थी, आज वहॉं गरमीके कारण रहना कठिन हो जाता है, जैसे कि सिन्धके कई भाग। वैदिक समयमे सिन्ध एक शीतप्रधान देश था। इसी प्रकार प्राचीन सरस्वती नदी बीकानेरके समुद्रमे आकर गिरती थी। यही अवस्था अन्य स्थानोंकी भी है, आज जहां पर्वतराज हैं, वहॉं किसी समय समुद्र हिलोरें मार रहा था, तथा आज जहॉं समुद्र है, वहाँ कभी शुष्क पृथ्वी थी। तथा च वैदिक साहित्यका पूर्णरूपसे प्राप्त न होना भी इसमे मुख्य कारण है। एवं बादके ग्रन्थोंमें साम्प्रदायिकता के कारण अनेक बातें ऐसी आगईं, कि जिन पर विचार या विश्वास करनेको आजका विद्वन्मंडल तय्यार नहीं है। इतना सब कुछ होनेपर भी परिश्रमका फल अवश्य कुछ न कुछ मिल ही जाता है। अतः हम कुछ इस विषय पर प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे। वैदिक साहित्यमे हमको अनेक नदियों, पर्वतों तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियोंका उल्लेख प्राप्त होता है। उसीसे हम अनुमान लगा सकते है कि इस देशकी प्राचीन सीमा कौन सी थी। अथर्ववेदीय पिप्पलाद संहिताके ५। २२। १४ में हमको 'काशी' शब्द मिलता है, जो कि किसी देशका वाचक है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण ३१। ५। १६ तथा अन्य ब्राह्मणोंमें अथवा उपनिषदोंमे भी काश्य तथा काशी शब्द मिलता है। तथा च वह कोशल, और विदेह आदि शब्दोंके साथ आया है। इससे यह अनुमान होता है, कि यह देश कहीं पास पास ही थे। शतपथ ब्राह्मणमे आया है कि--

सैषा (सदानीरानदी) कोसल विदेहानां मर्यादा ।१।४।१।१७

अर्थात्—यह सदानीरा नदी कोसल और विदेहोंकी मर्यादा है। इसी प्रकार जैमिनीय ब्राह्मण आदि ग्रन्थोंमे भी है।

सदानीरा

यह सदानीरा कौनसी है, आज इस विषयमे भी अनेक मतभेद है। आधुनिक कोषकारोंके मतमे तो यह नदी 'करतोया' है। परन्तु अनेक विद्वानोंके विचारानुसार यह गण्डकी नदी है। जो भी हो, है कोई ऐसी नदी जो इन दो राज्योंकी सीमा पर है। तथा वेदमे सरयू नदीका भी उल्लेख आया है।

उतत्यासद्याआर्या सरयोरिन्द्रपारतः।

अर्णाचित्ररथावधीः ॥

ऋ० मं० ४ सू० ३०। १८

अर्थात्—हे इन्द्र तुमने सरयू नदीके पार रहने वाले आर्य अरण और चित्ररथको उसी समय मार दिया था।

मावोरसानितभा कुभा। ऋ० मं० ५ सू० ५३। म० ९

इस मन्त्रमें रसा, अनितिभा, कुभा तथा जलमयी सरयूका वर्णन है। इसके साथ ही सिन्धुका भी नाम आया है। तथा ऋ० १०। ६४। ९ मे भी इस सरयूका नाम सिन्धु और सरस्वती के साथ साथ आया है। इस पर पाश्चात्य विद्वानोंका कथन है कि इस सरयू नदीका नाम वेदमें पंजाबकी नदियोंके साथ आया है, इसलिये यह नदी वर्तमान सरयू नहीं होसकती। उनका कथन

है कि पारसियोंकी पुस्तक जेन्दावस्तामें एक नदीका नाम 'हरयु' है यह नदी वतमानमे 'हरीरुद' है। बस वैदिक सरयू भी यही हरीरुद नदी है अथवा अफगानिस्तानकी ही कोई अन्य नदी होगी। उनका कथन है, कि वैदिक आर्योंको पूर्वके देशोंका ज्ञान नहीं था, तथा न वे यहाँ तक आये ही थे, क्याकि वेदोमे उनका उल्लेख नहीं है। वास्तवमे इन लोगोने पहले अपना एक मत निश्चित कर लिया है, तथा उसके बाद सब बातोंकी जाच करत है। बम जो बात उनके पूर्व निश्चित मतके विरुद्ध हुई कि उन्होने झट कहा कि यह तो होही नहीं सकता। परन्तु ऐतिहासिक विद्वानोके लिये यह बात बहुत खतरनाक है। प्रथम तो यह कोई युक्ति नही है, कि जिस चीजका वर्णन किसी पुस्तकमे न हो तो उसका लेखक उन चीजोंसे अनभिज्ञ हो जाय। आज भी हजारों पुस्तके है परन्तु क्या कोई कह मकता है। कि सब पुस्तकोंमे वतमान ममयकी सब वस्तुओंका कथन है। ऋग्वेदमे भी नमकका उल्लेख नहीं है, परन्तु सिन्ध तथा पंजाबमे भी नमक बहुतायतमे मिलता है, तो हम कैमे कह मकते है, कि वैदिक आर्य 'नमक' से नावाकिफ थे। इमी प्रकार 'मोहन-जोदड़ो' की खुदाईमे घोड़ेकी मूर्ति नहीं मिली, इस पर एक विद्वानने अनुमान किया कि मिन्धवामी पहले घोड़ेको नहीं जानते थे, ऐमी बाते हास्यास्पद है।

ऐसे ही अनेक उदाहरण है। भला इस बातका हमारे पाम क्या प्रमाण है, कि वैदिक आर्य पूर्वमे नहीं आये थे। वेदोंमे उल्लेख न होना तो प्रमाण नहीं है। हमारी सम्मतिमे सरयू नदी वर्तमान सरयू ही है। सरयूके साथ ही अनितभाका भी नाम आया है। जिसके लिये विद्वान् लोग मौन है। अथवा

इसको पंजाबकी कोई नदी होगी, ऐसा कह देते हैं। हमारी सम्मतिमें यह भी कोई पूर्वकी नदी होगी। यदि हम इसको सदानीरा ही समझें तो इसमे क्या भूल है। अस्तु अब हम ऐतिहासिक दृष्टिसे इस पर विचार करते हैं। शतपथ ब्राह्मणमें कोशल राज्यका उल्लेख है, और वह विदेह राज्यके साथ साथ आया है, तथा च वहाँ सदानीरा नामकी नदीका भी उल्लेख है। इस नदीका नाम महाभारतमे भी यही आया है, तथा वहाँ भी यह नदी इसी प्रान्तकी एक नदी है। भीष्म पर्व अध्याय ६ में अनेक नदियोंके नाम आये है। वहाँ यह भी एक नाम है। शतपथ ब्राह्मणका समय आजसे ४ हजार वर्ष पूर्वका है। तथा महाभारतके समयमे भी कोशल राज तथा सदानीरा नदीका यहाँ होना सिद्ध है। महाभारतमे सरयू आदि अनेक नदियोंके और भी नाम हैं, जो कि पूर्वमे बहती है। महाभारतका काल भी लगभग उतना ही है, तथा च महाभारतमे अयोध्याका राजा बृहद्बल युद्धमे था जिसको अभिमन्युने मारा था। इन सब प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि आजसे ४००० वर्ष अथवा इससे कुछ अधिक समय पूर्व तक आर्योका यहाँ राज्य था। काशीराज और विदेह लोग भी युद्धमे थे। अतः इन पर उस समय आर्योंका राज्य रहा है, यह तो निश्चित है। बृहद्बलसे पहले सूर्यवंशकी ९३ पीढियाँ और भी अयोध्यामे ही हो चुकी है। यदि इनका काल ५५ वर्ष प्रत्येक पीढीका लगावे तो भी ५००० हजार वर्षके अनुमान हो जाते है। पहले मनुष्योंकी आयु आजकलसे अधिक थी, वह हुयेनसांग आदि विदेशियोंने भी लिखा है। आज भी विदेशोंमे औसतन आयु भारतीयोंसे अधिक है। अतः आजसे दस हजार वर्ष पहले तो अयोध्या आदि पूर्वीय

देशों पर आर्यों का एकछत्र राज्य था। हाँ, यह अवश्य है कि वह प्राचीन अयोध्या यह वर्तमान अयोध्या नहीं है, ऐसा परिवर्तन तो देहलीमें ही कितनी बार हुआ होगा। तो क्या देहली की प्राचीनता नष्ट हो गई। अथवा यह प्राचीन समयमे अज्ञात थी, ऐसा कोई कह सकता है। अब हमें यह विचारना है, कि कौशल राज्यकी स्थापना कब हुई।

भारतकी प्रथम राजधानी

अयोध्यानामनगरी तत्रासील्लोकविश्रुता ।
मनुना मानवेन्द्रेण सापुरी निर्मिता स्वयम् ॥

(वा० रामायण, बाल०)

अर्थात्–लोकमें प्रसिद्ध अयोध्या नामकी नगरी है। उसको नरेन्द्र मनु ने स्वयं बनाया था। यही बात जैन पुराणोंमे भी आई है।

तस्यामलंकृते पुण्ये देशे कल्पाङ्घ्रिपात्यये।
तत्पुण्यैर्मुहुराहूतः पुरुहूतः पुरीं दधात् ॥

—आदि पुराण पर्व १२। ६६

अर्थात्–कल्पवृक्षोंके नष्ट होजाने पर जिस देशको महाराजा नाभि तथा उनकी धर्मपत्नी मरु देवीने अलंकृत किया था उन्हीं के पुण्यसे प्रेरित होकर एक पुरी रची। तथा आगे श्लोक ७६ मे लिखा है।

अयोध्या न परं नाम्ना गुणेनाप्यरिभिः सुरा: । ७६

अर्थात्—यह अयोध्या केवल नाम की ही नहीं थी, अपितु शत्रुओंसे भी अजेया थी। इससे सिद्ध है कि अयोध्याको नाभिराय मनुने बनवाया था। यही बात रामायणमें है। इस प्रकार एक दूसरेके विरोधी ग्रन्थ इस विषयमें एक ही साक्षी दे रहे हैं इस पर अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है। हम इस विषयका विशेष विवेचन ऋषभदेव और वेद विषयमें करेंगे। यहां तो इतना ही समझ लेना चाहिये कि श्री ऋषभदेव जी के पिताने यह अयोध्या नगरी बनवाई थी। वे अन्तिम कुलकर अर्थात मनु थे यह बात जैनियोंमें सर्वमान्य है तथा च अन्तिम मनु ने अयोध्याका निर्माण किया यह सर्वभारतीय प्राचीन हिन्दू शास्त्रों का मत है। यही बात बौद्ध ग्रथोंमें भी लिखी है। अतः हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण भारतीय प्रजाका इस विषयमे एक-मत था तथा है कि अयोध्याका निर्माण मनुजीने ही पहले कर-वाया था। जब सबका एकमत है तो कुछ विदेशीय विद्वानोंकी मिथ्या एवं निराधार कल्पनाका कुछ भी मूल्य नहीं है। अब यदि हम यह जान सके कि प्राचीन समयमे इस कोशल राज्यकी सीमा कहाँ तक थी तो हम भारतकी प्राचीन सीमाका पता लगा सकेंगे। क्योंकि उस समय भारतकी राजधानी अयोध्या ही थी। इसका पता लगानेके लिये हमारे पास निम्न लिखित साधन हैं।

वैदिक नदियां

वैदिक साहित्यमे अनेक नदियोंका उल्लेख है। उससे भी उस समयके भौगोलिक विषयका ज्ञान होता है। (१) गंगा, (२) जमना, (३) सरस्वती, (४) शतद्रु (शतलज), (५) ईरावती

था रावी, (६) असिक्नी (चुनाव), (७) वितस्ता (झेलम), (८) मरुद्वृधा, (९) आर्जिकीया। (१०) तृष्टोमा, (११) सुसर्तु, (१२) रसा (रहा), (१३) श्वेती (अर्जुनी), (१४) कुमु, (१५) गोमती (काबुलकीनदी), (१६) श्वेतयावरी, (१७) शिफा, (१८) अञ्जसी, (१९) कुलिशी, (२०) वीरपत्नी, (२१) सरयू, (२२) अदीना, (२३) दृषद्वती, (२४) अपेया, (२५) जाह्नावी, (२६) हरियूपिता (२७) ऊर्णवती, (२८) हिरण्यमयी, (२९) वाजनीवती, (३०) सीलमावती, (३१) सुषोमा। इत्यादि नदियोंका नाम वेदोंमे आया है। इससे यह अनुमान निकाला जाता है कि इन स्थानों पर आर्य निवास था। इनके अलावा अथर्ववेदकी पिप्पलादसंहितामे सदानीराका भी वर्णन है। अतः हम वैदिक समयके भूगोलका अनुमान अच्छी तरह कर सकते है। हम दिखला चुके है कि मनु महाराजने अयोध्या नगरीका निर्माण किया था वे कब हुये यहाँ यह प्रश्न नहीं है, परन्तु इतना अवश्य है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्यकी रचना उनके पश्चात् की है। अतः हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि वैदिक आर्योंकी प्रथम राजधानी अयोध्या थी। तथा विदेह और काशी आदिके राज भी इसके आधीन थे। भरतवंशियोंने ही विदेहराज और काशीराजको भी स्थापित किया था। पूर्व समयमे उत्तर कोशल तथा दक्षिणकोसल इस प्रकार कोसल राज्य दो भागोंमे विभक्त था अतः इसकी सीमा विशाला तथा विदेहराज दरभंगा तक थी। उत्तरमें इसकी सीमा रामगगा तक थी। तथा इधर सिन्धुनद और बिलोचिस्तान तथा गान्धार तक इस भारतदेशकी सीमा थी तथा यमुना और गङ्गाके सम्पूर्ण देश एवं पञ्जाब गोमती नदी। उधर रैवत पर्वत आदि संपूर्ण देश इस राज्यके

अन्तर्गत थे। इस देशकी वंशावली सबसे प्राचीन एवं सबसे अधिक सुरक्षित है। कोई भी इतिहासलेखक इसकी सहायताके बिना भारतका इतिहास नहीं लिख सकता।

वैदिक पर्वत

वैदिक साहित्यमे अनेक पर्वतोंका भी उल्लेख आता है, उससे भी प्रकरण पर कुछ प्रकाश पड़ता है। (१) हिमवत (हिमालय), (२) मृजवत (यहांसे सोम आता था), (३) त्रिककुभ, (त्रिकूट) यहाँसे विशेष प्रकारकी अंजन औषधी आती थी। कहते हैं कि मनुजी की नाव इसी जगह रुकी थी।

तथा च ब्राह्मण ग्रन्थोंमे भी कुछ पर्वतोंके नाम आये हैं (१) सुदर्शन, (२) क्रौंच, (३) मैनाक। यहाँ सुदर्शनका अर्थ मेरु (सुमेरु) है इसका राजा कुबेर था।

वैदिक समुद्र

ऋग्वेद म० १०, १३६, ५ मे पूर्व समुद्र तथा पश्चिम-समुद्रका उल्लेख है। तथा भुज्युकी समुद्रयात्रा प्रसिद्ध ही है। समुद्रज पदार्थोंका भी वेदोंमें उल्लेख है। इन सब प्रमाणोंसे भी हमारी पूर्वोक्त निर्धारित सीमा सिद्ध है। तथा च—

तस्मादिमं लोकं (पृथ्वी) दक्षिणावृत्समुद्रपर्येति।

शतपथ ७।१।१।१३।

तस्मादिमं लोकं (पृथ्वी) सर्वतः समुद्रपर्येति ।७।१।१।१३

अर्थात् यह पृथ्वी (भारतवर्ष) दक्षिण समुद्र पर्यन्त है। तथा च यह भारत चारों ओर समुद्रवाली है। अन्य स्थानोंमें भी ऐसा

पाठ है। 'पयोधरीभूत चतुःसमुद्राम्' -(रघुवंश)। जो बात ब्राह्मणकारने कही वही बात कालिदास भी कहता है। इससे पूर्व पश्चिम और दक्षिण समुद्र तक तथा च हिमालयके सम्पूर्ण प्रान्त भारतकी सीमा थी तथा इलावृत्त अर्थात् पश्चिम साइबेरियाभी संभवतः भारतका उपनिवेश था।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन (पृथिव्यां) सर्वमानवाः -मनु०

अर्थात् भारतवर्षीय ब्राह्मणोंसे अपने २ लोकव्यवहारके अनुकूल (पृथिव्यां) भारतवर्षमे बाहरसे सब लोग शिक्षा ग्रहण करने आते थे।

समुद्रो वा हीमां (पृथ्वींभारतीं) अभितः पिन्वते।

शत० ७।४।१।६

अर्थात् इस भारतवर्षकी सब तरफसे समुद्र रक्षा करता है। आज भी इसकी वही व्यवस्था है। बस वैदिक समयमे भी इसका भौगोलिक नकशा यही था। महाभारतके समयमे भी भारतकी ऐसी ही व्यवस्था थी। तथा च अशोक और जैनसम्राट सम्प्रति तक भी भारतकी यही सीमा थी यह इतिहासप्रसिद्ध है

वैदिक पृथ्वी

वैदिक भाषामे पृथ्वी, भू, भूमि, वेदि, प्रतिष्ठा, भारती, भरत, मही, इहलोक आदि अनेक नाम इस भारतवर्षके हैं। उन सबका ब्योरा यह है—

'इयं वै क्षेत्रं पृथ्वी'–कौषीतकी ब्राह्मण ३०।११

गोपथ ३।५।१०

अर्थात् यह भरत क्षेत्र पृथ्वी है। यावती वै वेदी तावती पृथ्वी श० १।२।५ वेदिवैं अन्तः पृथ्व्याः तै० ३।६।५।५ (देवी तथा देवजयजी) श० ३।२।२० अयं भूः लोकः। यजु० १।५ भूमि० १३।१८ अदिति, मही, यजु० ११।५६ आदि इसके लिये अनेक प्रमाण है। तथा च—

तिस्रो वा इमाः पृथ्व्यः इयमहैका द्वे अस्याः परे।

शत० ५।१।५।२१

अर्थात् तीन पृथ्वी है। उनमेंसे यह भारतवर्ष एक है तथा दो इससे परे है। तिस्रो देवीसे मिलाने पर ठीक अर्थ हो जायेगा। इस भारतका नाम मित्र तथा सामुद्रिक विभाग सारस्वत देशका नाम वरुण था। अयं वै पृथ्वी लोको मित्रः असौ द्यु लोक वरुणः। श० १२।६।२। बस इसी भारतकी महिमासे वेदका अधिक भाग ग्रथित हुआ है। इस भारतके नाममे एक नाम वेदी भी आया है और लिखा है कि वेदी ही पृथ्वीका अन्त है। तथा च वेदीका अर्थ शतपथ ३।६।२।५ मे वेदिवैं सलिलम् किया है।

अर्थात् जलका नाम वेदी है। अतः स्पष्ट हो गया कि भारतवर्षकी अन्तिम सीमा समुद्र है। विष्णुपुराणमें भी उसकी सीमा बतलाई है।

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।

वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥

नवयोजन साहस्रो विस्तारोऽस्य महामुने। अंश २ अ० ३

अर्थात् समुद्रके उत्तरसे हिमालयके दक्षिण तकके देशका नाम भारतवर्ष है। यहांके लोग भरतकी सन्तान है। इस देशका विस्तार ३६ हजार कोस है। इसमे भारतकी परिधि ७२ हजार मील मानी है। इसके अलावा 'भारतीय इतिहासकी रूप रेखा' मे तथा 'भारतभूमि और उसके निवासी' पुस्तकमे श्री पं० जयचन्द्र जी विद्यालकारने बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। जो कुछ उन पुस्तकोंसे विशेष प्रतीत हुआ वह हमने लिखा है। इतना समझ लेना चाहिये कि जिस समयका हम वर्णन कर रहे हैं उस समय भारतके पॉच भेद अथवा सात भेद या नौ भेद नही थे। अपितु भरत महाराजने जितनी पृथ्वी पर राज्य किया था उसी देशका नाम भारतवर्ष था।

दाशराज युद्ध

यह बात सिद्ध होगई कि अति प्राचीन कालसे इस देशका नाम 'भारत' है। तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस देशका यह नाम कबसे हुआ? एवं किस महापुरुषके नामसे यह नाम विख्यात हुआ? इस देशका नाम 'सम्राट्' भरत' से 'भारत' हुआ। इसमें सम्पूर्ण ऐतिहासिकोंका एक मत है। परन्तु प्रायः सभी ऐतिहासिकोंका मत है कि दुष्यन्त पुत्र 'भरत' से इस देशका नाम 'भारत' प्रसिद्ध हुआ। किन्तु जब हम गहराईसे विचार करते है, तब हमको यह कल्पना केवल कल्पना ही प्रतीत होती है। क्योंकि वैदिक साहित्यसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि दुष्यन्त-पुत्र भरतसे हजारों वर्ष पहले भी इस देशका नाम 'भारत' था। तथा उस समय एवं उससे भी अति प्राचीन कालसे इस देशमें एक 'भरत' या भारत जाति रहती थी। उस 'भारत' जाति

और 'भारत' देशका आदि सम्राट् भरतसे प्रादुर्भाव हुआ था। ऋग्वेदका बहुभाग उसी प्राचीन 'भरत' जातिकी स्तुतिमें ग्रथित हुआ है। यह 'भरतवश,' सूर्यवंश, इक्ष्वाकुवंश, वृषभवंश वा सूर्यकुलके नामसे प्रसिद्ध था। परन्तु दुष्यन्त-पुत्र 'भरत' चन्द्रवंशी और ऐल आदिके नामसे प्रसिद्ध है। ये ऐलवंशी 'असुर' कहलाते थे तथा सूर्यवंशी देवोंके नामसे प्रसिद्ध थे। चन्द्रवंशी हिंसाप्रधान योग आदिके अनुयायी थे, परन्तु सूर्यवंशी अहिंसाधमके उपासक थे। एवं चन्द्रवंशी 'इलावर्त' से यहां आये थे और सूर्यवंशी यहाँके मूलनिवासी थे। इन दोनों जातियोंके अनेक बार घोर युद्ध हुए हैं, उन युद्धोंका वर्णन वेदोंमें देवासुर संग्राम, और दाशराजयुद्ध आदि नामोंसे हुआ है।

हम यहाँ दाशराज युद्धका संक्षेपसे उल्लेख करते हैं।

आजसे अनुमान ६००० नव हजार वर्ष पूर्व इस भारत वर्षमे एक भयानक युद्ध हुआ। वैदिक साहित्यमे इस युद्धका नाम दाशराजयुद्ध है।

एवन्नुकं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः ॥

ऋ० ७।३३।३।

अर्थात् प्रसिद्ध 'दाशराज' युद्धमे वसिष्ठ पुत्रोंके मन्त्र-बलसे इन्द्रने सुदास राजाकी रक्षा की थी। अभिप्राय यह है कि ऋग्वेदमे इस युद्धका नाम 'दाशराज' युद्ध है और इस युद्धमे वसिष्ठ और उनके पुत्रोंकी प्रेरणासे इन्द्रने भरतवंशी सुदासकी सहायताकी थी। इस युद्धमें दस राजाओंने मिलकर एक साथ सुदास पर चढ़ाईकी थी

ऋग्वेदमे लिखा है कि—

यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्रसुदासमावतं तृत्सुभिः सह ॥
दशराजानः समिता अयज्वः सुदासमिन्द्रा वरुणानययुधुः

ऋग्वेद मंत्र ७।८३।६-७।

अर्थात हे इन्द्र । दाशराज युद्धमे दश राजाओं द्वारा प्रपीड़ित तृत्सुओंके साथ तुमने सुदास राजा की रक्षा की थी ॥ ६ ॥

हे इन्द्र और वरुण । यज्ञ-हीन दसराजा भी सुदास से युद्ध में विजय न पासके । ॥ ७ ॥

उपरोक्त मंत्रों से यह स्पष्ट सिद्ध है कि इस युद्ध मे सुदास के विरुद्ध दस राजाओं ने चढ़ाई की थी ये दस राजा निम्न थे ।

पौरव, सम्बरण, मत्स्य, तुर्वसु, द्रुह्यु, शिवि पक्थ, भलाना,—भलानस, अलिन, विषाणी, ॥ १ ॥

इसमे विलोचिस्तान, सिन्ध, काबुल पञ्जाब, मत्स्य–वर्तमान अलवर— प्रान्त के राजा, हस्तिनापुर तथा यू० पी० के राजा थे। इसके अलावा इन राजाओं के साथ अनार्यलोगों की भी विशाल सेना थी।

एवं पुरुरवा के सम्पूर्ण वंश के योद्धा व राजा भी पुरु के साथी थे।

आपक्थासो भलानसो भनन्ता लिनासो विषाणिनः शिवासः

ऋग्वेद । मं० ७।१८।७।

पुरु की राजधानी प्रयाग थी और सुदास की राजधानी अयोध्या थी। अतः यह युद्ध प्रयाग और अयोध्या के मध्य में हुआ था।

एक तरफ प्रयाग का अधिपति पुरु था; और दूसरी ओर अयोध्या-अधिपति सुदास था, जोकि उस समय का महान् विजेता था। सुदास के साथियों में तृत्सु और मरुद्गण थे। तृत्सु शायद तिब्बत के निवासी थे। एवं मरुद्गण ये छापामार सैनिकों का गण था।

अथवा यह गोरिल्ला युद्ध करने में प्रवीण सैनिक दल था। ये मरुद्गण भरतवंश के थे।

आसद्या बर्हि भरतस्य सूनवः ॥

ऋग्वेद मं० २।३६। २॥

इस मन्त्र का देवता मरुद् गण है। मन्त्र का निम्न अर्थ है कि हे भरत पुत्र मरुद् गणो! तुम कुशासन पर बैठकर सोम-पान करो। अतः यह स्पष्ट होगया कि मरुद् गण भरतवंशीय थे। तथा वेद में इन मरुतों को मनुष्य लिखा है

यथा—यद् यूयं पृश्नि मातरो मर्तासः

ऋ० मं० १।३८।४

इस मन्त्र का अर्थ करते हुये श्री सायणाचार्य लिखते हैं कि—

एवं कर्माणि कृत्वा मर्तासो मनुष्या अपि सन्तः अमृतत्वं देवत्वं आनशुः आनेशिरे।

अर्थात् ऋभुवों की तरह मरुतों ने भी शुभकर्म करके देवत्व प्राप्त किया था।

वेद स्वयं कहता है कि—

मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः ॥

ऋ० १।११०।४

अर्थात् ऋभुलोग मनुष्यों से देवता बने थे।

श्री० पं० सातवलेकरजी ने ऋग्वेद के सुबोध भाष्य में लिखा है कि—

यहां मनुष्यों के देवत्व की प्राप्ति होने की बात स्पष्ट हुई है,

जैसे 'मरुतः' और ऋभु, प्रथम मानव होते हुए पश्चात् शुभ कर्मों के कारण देव बने, वैसे ही अन्य मनुष्य भी बन सकते हैं। भाग ५ पृ० १६। उपरोक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि मरुद् गण मनुष्य थे, तथा भरतकुल में उत्पन्न हुये थे।

मरुतों के कन्धे पर खादी

अंसेष्वा मरुतः खादयो वो वक्षःसु ॥

ऋ० ७।५६।१३

अर्थात् हे मरुतो! तुम्हारे कंधों पर खादी स्थित है।

यहाँ श्री सायण ने खादी का अर्थ अलंकार किया है।

तथा च वेद कहता है कि—

शूरः सर्गमकृणोदिन्द्र एषाम् ॥

ऋ० ७।१८।११

वीर इन्द्र ने सुदासकी सहायताके लिये मरुद् गणोंको उत्पन्न किया था। इससे ज्ञात होता है कि— उस समय इन्द्र ने मरुद्-गणों को युद्ध की विशेष प्रकार की शिक्षा देकर इनको तय्यार किया था।

श्रीमान पं० सातवलेकर जी ने मरुद् गणों का वर्णन निम्न-प्रकार से किया है।

मरुत देवों का गण

मरुत (मर+उत) मरने तक उठकर लड़ने वाले बड़े भारी वीर है ये समुदाय मे रहते है सब मिलकर एक ही बड़े भारी घरमे रहते है साथ साथ शत्रु पर हमला करते है सब की पोशाक एक जैसी रहती है खान पान समान होता है सबके पास अस्त्र शस्त्र समान रहते है इनकी कतार सातों की मिलकर एक होती है प्रत्येक कतार के दोनों ओर दो वीर रहते है इनको पार्श्व-रक्षक अर्थात् दोनो बाजुओं मे होने वाले हमलों मे बचाने वाले वीर कहते है इस तरह १+७+१-९ नौ वीरों की एक कतार होती है। ऐसी इनकी ७ कतारे होती है अर्थात् ७ कतारों मे मिलकर (९× ७=) ६३ सैनिक होते है इनके संख्या के अनुसार संघ के नाम होते है।

१-शर्ध ७ वीरों की एक पक्ति २ पार्श्वरक्षक मिलकर ९ वीर हुए (१+७+१=) ९×७ कतारें=६३ वीरों का एक शर्ध होता है इसमे (७×७=) ४९ सैनिक और (७×२) १४ पार्श्वरक्षक मिल-कर ६३ वीर रहते है इसका नाम शर्ध है।

२-व्रात (६३-×७=) ४४१ सैनिकोंका एक व्रात कहलाता है।

३-गण=(६३×१४=) ८८२ सैनिकों का अथवा १४ व्रातोंका एक गण कहलाता है।

४-महागण (६३×६३=) ३९६९ सैनिकों का महागण कह-लाता है। इस तरह सातों के विविध अनुपातों मे इनके अनेक

छोटे मोटे सैनिक विभाग होते हैं, इससे भी महागणमण्डल आदि अनेक विभागों के नाम है।

शस्त्रास्त्र

इनके शस्त्रास्त्र ये है। ऋष्टिः- भाला, वाशी, कुल्हाड़ा ये शस्त्र और अञ्जि-गणवेशभी सबका समान ही रहता है। अन्यत्र अन्य शस्त्रों का वर्णन भी है। तलवार, वज्र आदि भी ये वर्तते थे और लोह के शिरस्त्राण भी ये वर्तते थे।

बल

मरुतों का बल संघके कारण है। समूह में रहना, समूह मे जाना, समूह से क्रीडा करना आदि के कारण जो इनका संगठन है उसका यह बल है। इस सूक्त का मंत्रवार आशय ऐसा है (१) ऋषि कण्व से कहता है कि मरुतों के काव्यो का गान करो क्योंकि उनका बल संघ से उत्पन्न हुआ है तथा ये आपस मे कभी लड़ते नहीं, रथों मे बैठकर वीरता को प्रकट करते है। अर्थात् इनके काव्यों का गान करने से मानवों मे संगठन का बल बढ़ेगा, खेलों में रुचि बढ़ने से वृत्ति आनन्द युक्त बनेगी, और उससे उत्साह बढ़ेगा। इसीलिये मरुतों के काव्यों का गान करना वीरता को बढ़ाने वाला है।

(२) ये वीर भाले, बर्छियां, कुल्हाड़े तथा अपनी अन्य पोशाक सम-समान ही धारण करते हैं और जब बाहर आते है तब-सजे सजाये साथ २ प्रगट होते हैं। ये कभी अकेले नहीं रहते इनका सबही रहना सहना साधिक होता है।

(३) ये हाथों में चाबुक लेकर अपने घोड़ों को दौड़ाते हुए आते हैं। उस समय इनके कोड़ों का शब्द दूर से भी सुनाई देता है। युद्ध के समय तो इनकी वीरता विशेष ही प्रकट होती है।

(४) वीरों के संघ का बल बढ़ाने के लिये, शत्रु पर हमला करने के लिये और प्रताप का सामर्थ्य वृद्धिगत करने के लिये इन वीरों के काव्यों का गान करते जाओ। वीरों के काव्य गाने से सुनने वालों में वीरता बढ़ जाती है। यह है—वीरों के काव्यों का महत्त्व।

(५) गौ के दूध आदि गौरस में एक बड़ा भारी सामर्थ्य है। संघ में रहने से औरएक बल बढ़ता है। पहिला बल गौरस पीने से बढ़ता है और दूसरा साधिक जीवन से बढ़ता है। इस सब प्रकार के बल की वृद्धि करनी चाहिये। कोइ ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिसमें शक्तिका नाश ही होजाय।

(६) ये वीर भूमि और आकाश को हिला छोड़ते है। ये, सब समान होने के कारण इनमें कोई भी छोटा या बड़ा नहीं होता। इनमें एक भी वीर ऐसा नहीं है जो शत्रु को समूल हिलाता न होगा।

(७) इनका हमला शत्रु पर होने लगा, तो साधारण मानव किसी के आश्रम में जाकर रहते हैं, क्योंकि ये वीर पहाड़ों को भी उखाड़देते हैं। अर्थात् इनके हमलों से सभी भयभीत होते है।

(८) इनके हमलों के समय भूमि भी कांप उठती है और मरियल बालक के समान सभी भयभीत होते है।

(९) इनका जन्मस्थान सुस्थिर है, पर ये दूर २ हमला करने के लिये दौड़ते हैं। जिसतरह पक्षी के छोटे बच्चे भक्ष्य के लिये

दूर जाते है तो भी अपनी माता के ऊपर उनका ध्यान रहता है। वैसा ही ये वीर दूर हमले के लिये गये तो भी मातृभूमि पर उनका ध्यान रहता ही है।

(१०) ये बड़े वक्ता हैं, ये अपने पराक्रम मे अपनी पराकाष्ठा करते है। जिस तरह घुटने जितने पानी मे गौवें घूमती है, उसी तरह सर्वत्र ये वीर घूमते है और पराक्रम करते रहते है।

(११) ये (वायुरूप)मे बड़े भारी मेघों को तितरवितर करते है वैसे ही ये वीर शत्रु कितना भी प्रबल हुआ, तो भी उसको उखाड़ ही देते हैं।

(१२) जो उनका बल शत्रुओं को हटाता है वही बल पर्वतों को भी लांघता है।

(१३) ये वीर जब कतारों मे मार्गपर से चलते है, तब वे आपस मे इतनी छोटी आवाज मे बोलते है, कि इस समय इनका शब्द तीसरा आदमी सुन नहीं सकता। दो वीर आपस मे बात करने लगे तो तीसरा सुन नहीं सकता।"

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य० ५,१५।

अभिप्राय यह है कि इस प्रकार यह दाशराज युद्ध दो सम्राटों मे था। परन्तु इसमे पुरु की शक्ति विशाल थी, क्योंकि उसके साथ अनेक अनार्य राजा थे। किन्तु सुदास के साथ केवल भारतवंशी ही थे। इसलिये वेदने कहा है कि—

परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः ॥

ऋ० मं० ७ सूक्त २३॥

अर्थात् 'पुरु' की सेना के सन्मुख सुदास आदि भरत, अत्यन्त अल्प थे। उस समय इस भरत वंश के पुरोहित (प्रधान

सलाहकार)-विश्वामित्र ऋषि थे। विश्वामित्र अति निपुण योद्धा होते हुए भी उस अपार सेना के सन्मुख उसकी एक भी न चल-सकी। परिणाम यह हुआ कि सुदास की सेना चारों ओर से घिर गई, अत भरतों का पराभव निकट भविष्य में ही अवश्यम्भावी था, कि सुदास ने बड़ी बुद्धिमानी से उस समय के सब से बड़े नीति निपुण वसिष्ठ ऋषि को अपना पुरोहित बना लिया[1]।

वेद मे लिखा है कि—

अभवच्च पुर एता वसिष्टः॥

ऋ० ७।२३।

अर्थात् उसी समय मे भरतो के पुरोहित वसिष्ठ बने। तथा च ताण्ड्य ब्राह्मण में लिखा है कि—

वसिष्ठ पुरोहिता भरताः। १५। ४। २४।

अर्थात् भरतों के पुरोहित वसिष्ठ है। वेद तथा ब्राह्मण में 'भरता.' ऐसा बहुवचनान्त शब्द भरत वंश को प्रकट करता है। इन प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि उस समय यह वंश भरत वंश के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध था, क्योंकि वैदिक वाङ्मयमे इसी नाम से बार २ इसका उल्लेख आया है। यद्यपि इस कुलका उल्लेख, मानव, इक्ष्वाकु तथा सूर्य आदि नाम से भी हुआ है, परन्तु अल्पमात्रा मे ही इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। अभिप्राय यह

---

१ इसी विषय को लेकर वसिष्ठ और विश्वामित्र का भयानक कलह हुआ। स्वाभाविक है कि विश्वामित्र ने इसको अपना भयानक अपमान समझा हो।

है कि यह दाशराज युद्ध. चन्द्रवंशी और भरत या भारतवंश, ऐसे दो कुलों में था। इनमें चन्द्रवंशी विदेशी आर्य थे तथा भरतवंशी भारतीय आर्य थे। अब हम 'पुरु' और 'सुदास' की वंश-परम्परा का परिचय देते है, ताकि यह निश्चय हो जाय कि यह भरत जाति सूर्य वंश के कुल की थी तथा पुरु 'चन्द्र' या 'ऐल' वंशा था।[१]

पुरुरवा

पुरुरवा चन्द्र (सोम) वंशमे एक महान् प्रतापी व बलशाली सम्राट् हुआ है। इसके कुल का नाम 'एल' भी था। यह नाम उसकी माता 'इला' के नाम से प्रचलित हुआ। पुरुरवा के पिता का नाम 'बुध' था। यह बुध प्रजापति 'सोम' की सन्तान थी। सोम-चन्द्र- के लिये महाभारत मे लिखा है कि—

सोमः प्रजापतिपूर्वं कुरूणां वंशवर्द्धनः

उद्योग पर्व १४७।३।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि कौरव वंश के प्रणेता सोम (चन्द्र) का यह पुरुरवा पौत्र (पोता) था तथा यह सोम महर्षि अत्रि का पुत्र था।

अत्रि—अत्रि नाम के अनेक ऋषियों का कथन वैदिक

---

(१)—श्रीमान् वैद्यजी भी इस युद्ध को चन्द्र-वंशी, तथा सूर्य-वंशी भरतों का युद्ध मानते है। आपके मत से यह युद्ध सरयू के किनारे हुआ था। किन्तु अनेक विद्वानोंका मत है कि यह युद्ध जमुना के किनारे हुआ था। तथा वैद्य जी ने निरुक्त और पुराणों के प्रमाणों से यह भी सिद्ध किया है कि—यह भरत जति आदि भरत की सन्तान थी! यह आदि भरत सूर्य वंशी था। (गंगा का वेदांक)

साहित्य में उपलब्ध होता है। उनमें से एक 'अत्रि' शुक्र=उशना के पुत्र थे। यह अत्रि असुर-याजक थे।

क्योंकि स्वयं 'शुक्र' भी असुरों के पुरोहित थे। अतः यह सिद्ध है कि 'पुरुरवा' असुर-कुलका था[1]। अत: स्वभावतः इसका आर्यों से विरोध था।

पुरुरवा का मूलस्थान असुर (असीरिया) प्रदेश था, किन्तु माता इला के कारण इसको 'प्रतिष्ठान' (प्रयाग) का राज्य प्राप्त हुआ था। यह महान् विजेता था एव यह समुद्र के १८ द्वीपों का अधिपति था।

सुप्रसिद्ध कवि-कुलतिलक कालिदास ने अपने 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में इसका विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। इस पुरुरवा के समय में हिरण्यपुरवासी केशी राक्षस देवों पर अत्याचार करने लगा था। पुरुरवा ने इसको पराजित कर, अच्छी ख्याति प्राप्त की थी।

इस विजय से इसकी कीर्ति में चार चॉद लग गये थे और उसी समय से इन्द्र देव भी इस के मित्र बन गये थे। इन्द्र देव ने प्रसन्न होकर 'उर्वशी' नामक देवाङ्गना भी पुरुरवा को दे दी थी।

ऋग्वेद मं० १० सू० ९५ मे पुरुरवा और उर्वशी का विस्तार पूर्वक सम्वाद है। उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह पुरुरवा

---

१ असुर लोग मांसाहारी थे तथा देव शाकाहारी थे।
महाभारत की समालोचना में सातवलेकर जी

(२) संभवत: चन्द्रवंशियों को असुर कहते थे और सूर्य-वंशियों को देव।

महान् कामुक था। यही कामुकता अन्त में इसके पराजय का कारण बनी।

यह पुरुरवा मन्त्रकर्ता ऋषि भी था।

यह पुरुरवा इक्ष्वाकु और हमारे प्रतिराय आदि सम्राट् भरत का समकालीन था। बहुत संभव है कि भरत ने इस पर विजय प्राप्त की हो और उसी पराजय के कारण यह अपने देश-असीरिया- को चला गया हो तथा इसकी सन्तान ने भरत को कर देना स्वीकार करके यहीं अपना राज-काज चलाया हो।

'पुरुरवा विदेशी था[1], यहाँ मूल आर्यों से उसकी संस्कृति नहीं मिलती थी, क्योंकि ये लोग मांस मदिरा-सेवी थे और सूर्यवंशी अहिंसा धर्म के मानने वाले थे। अतः पुरुरवा के यहां आने से यहां सांस्कृतिक-कलह का भयानक बीज बोया गया, जो कि समय समय पर फलता और फूलता रहा।

यही कारण सुदास, और 'पुरु' के दासराज युद्ध का प्रतीत होता है। यदि ऐसा हो तो पाकिस्तान और भारतवर्ष की तरह यह युद्ध दो संस्कृतियों का युद्ध था।

पुरु

"ययाति का प्रसिद्ध रथ— ययति को रुद्र ने एक दिव्य-गुणयुक्त रथ दिया। जनमेजय द्वितीय तक यही सब पौरवों का रथ था तब यह बृहद्रथ द्वारा जरासन्ध को मिला। वहां से यह

---

१ यह 'इलावर्त' देश से आया था। इसलिये इसको 'ऐल' कहते थे, ऐसा अनेक विद्वानों का मत था। 'इलावर्त' देश क्षीरसागर अर्थात् वर्तमान कैस्पियनसागर के पास था।

देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण के पास आया। समय २ पर इस रथ का उद्धार होता रहा होगा। इस रथ के वृतान्त से ज्ञात होता है कि ययाति और भारतयुद्ध में कुछ सहस्र वर्ष का ही अतर होगा। इससे अधिक का नहीं।

ययाति का प्रदेश—पुरुरवा के प्रकरण मे कहा जा चुका है कि उसकी राजधानी प्रतिष्ठान अर्थात् प्रयाग थी। ययाति और उसके कुछ उत्तराधिकारियों का भी वही प्रदेश था। ययाति वत्स और काशी का ईश था। ययाति ने पुरु को राज्य देते हुये कहा था कि गंगा और यमुना के मध्य का सम्पूर्ण प्रदेश तुम्हारा है। पुरु का शासन काशीराज्यान्तर्गत प्रतिष्ठान मे था।

एक नाहुष का सहस्र-वर्ष-सत्र—ययाति आदि कई भाई थे। वे सब नाहुष थे। उनमें से किसी एक के सहस्र वर्ष सत्र का उल्लेख बृहद्देवता ६।२२ मे है। वन पर्व १३१।३-४ मे यमुना तट पर उसके किसी यज्ञ का उल्लेख है।

ययाति का वंश—ययाति के पांच पुत्र थे। काव्यपुत्री यानी देवयानी से यदु और तुर्वसु दो तथा दानव वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा से द्रुह्यु, अनु और पुरु तीन। ये पांचो पुत्र वंश शंकर थे। ययाति ने अपने राज्य का सर्वश्रेष्ठ भाग पुरु को दिया। शेष चार उत्तर-पश्चिम और पूर्व में राज्य करने लगे।

जरा प्रदान विद्या—पुरु को सर्वश्रेष्ठ भाग मिलने का एक कारण था ययाति ने पुरु की अनुमति से अपनी जरा उसे संक्रांमित की थी यह बात उशनभार्गव के प्रसाद से हुई वह इस विद्या को जानता था। इस पितृभक्ति के बदले में पुरु को राज्य का सर्वश्रेष्ठ भाग मिला।

ययातिका वानप्रस्थ—ययाति अपने पुत्रोंको राज्य देकर वानप्रस्थ होगये।

पुरु—महाभारत आदि पर्व की प्रथम वंशावली में पुरुभार्या पौष्ठी लिखी है। दूसरी वंशावली मे पुरु भार्या कौसल्या लिखी है। यदि ये वंशावली ठीक हैं तो कोसल में कोई पुष्ठ नाम का राजा होना चाहिये। इच्वाकु वश में ऐसे दो राजा हो सकते है। पृथु या विश्वगश्व। पुष्ठ इन दोनों मे से किसो का या इनके भाइयों में से किसी का नाम होगा पुरु के कारण उसका वंश पौरववंश कहा जाता है।

पुरु का पुत्र जनमेजय प्रथम था।

जैनधर्म और चार्वाक मत का प्रारंभ-पुरु से आगे का वृत्तांत आरम्भ करने से पहले यह उचित प्रतीत होता है कि मत्स्यपुराण मे वर्णित एक घटना का उल्लेख यहां किया जावे। वह घटना है जैन और चार्वाक मत के प्रारम्भ की।

कहते हैं बारहवां देवासुर संग्राम समाप्त हो गया था रजि ने इन्द्र बनाये जाने की प्रतिज्ञा पर देवों की सहायता की। देव जीतगये। इन्द्र ने अनुनय विनय करके रजि को इन्द्र बनने से परे हटा दिया। रजि पुत्रों को यह रुचिकर न लगा तब उन्होंने तप और शूरता के बल पर इन्द्रका ऐश्वर्य कम करना आरंभ किया। इन्द्र ने वृहस्पति से सहायता मांगी। वृहस्पति ने वेद-वित् होते हुये भी 'वेदवाह्य'मत चलाया। वह जिनधर्म मे स्थिर हो गया। और उसने हेतुवाद या चार्वाक मत चलाया। रजि पुत्र उसमें रत हो गये और अपने तप तेज को खो बैठे।

आयुर्वेद की चरक संहिता, चिकित्सा स्थान १६।६ में लिखा है—आदि काल में यज्ञों में पशु हिंसा नहीं होती थी। मनु के

पुत्र नरस्यन् नाभाग इक्ष्वाकु आदि के काल से यज्ञ में पशु मारे जाने लगे। और अत्यधिक मारे जाने लगे। अतः मनुपुत्र पृषध्र को यज्ञीय पशु ढूंढ़ने मे बड़ा कष्ट हुआ।

पृषध्र ने यज्ञार्थ गो वध किया ऋषियों ने उसे शाप दिया। उस शाप के अनुसार वह शूद्र हो गया। यही कारण है कि भारतीय राजकुलो मे से पृषध्र का कुल आरंभ में ही लुप्त होगया।

इससे निश्चित होता है कि रजि पुत्रों के काल में अथवा मनु के वंशज ककुत्स्थ आदि के काल में पशु हिंसा के विरुद्ध भारत मे एक भारी विप्लव उठा होगा। तभी से जैनधर्म का प्रादुर्भाव हुआ होगा। हिसा वाले पुरातन ब्राह्मण ग्रन्थों के विधि विधानों के कारण ही तब चार्वाक मत भी चला होगा।

महाभारत और रामायण आदि ग्रन्थों मे हेतुवाद की बहुत निंदा की गई है। आन्वीक्षिकी को भी भला बुरा कहा है। इससे प्रतीत होता है कि हेतुवाद चिरकाल प्रचलित हो गया था। हमारा विचार है कि मूल सांख्य और योगातिरिक्त समस्त वैदिक दर्शन इस चार्वाक या हेतुवाद दर्शन के खण्डन में रचे गये हैं।" (महाभारतका इतिहाससे)

पुरु की वंशावली

श्रीमान् पं० भगवद्दत्त जी बी०ए० ने 'भारतवर्ष का इतिहास' नामक पुस्तक में पुरुसे दुष्यन्त-पुत्र भरत तक निम्न वंशावली दी है।

(१) ययाति (१)—ययाति का एक पुत्र 'यदु' भी था, जिससे यादव वंश चला।

(२) पुरु
(३) जनमेजय (प्रथम)
(४) प्राचीन्वान्
(५) प्रवीर
(५) मनस्यु
(७) अभयद (सुभ्र)
(८) सुन्वन्त (धुन्धु
(६) यवीयान् (वहुगवो)
(१०) संयाति
(११) अहंयाति
(१२) रौद्राश्व
(१३) ऋचेयु
(१४) मतिनार (अन्तिनार)
(१५) सुमतितंसु (अप्रतिरथ, ध्रुव, गौरी)
(१६) इलिन
(१७) दुष्यन्त (दुःषन्त)
(१८) भरतचक्रवर्ती

इससे यह सिद्ध है कि 'पुरु'से सतरह पीढ़ी पश्चात् दुष्यन्त-पुत्र-भरत उत्पन्न हुए। ऐतिहासिक विद्वानोंके मतसे 'भरत' पुरुसे तीस पीढ़ी बाद हुए थे। बहुत संभव है कि पुराण आदिमें पूरी वंशावली न देकर प्रसिद्ध २ व्यक्तियोंके नाम दिये हों।

---

(१) पुरूरवासे ययाति सातवीं पीढ़ीमें था। यह नहुषका पुत्र था। सूर्यवंशमें भी एक नहुषका पुत्र 'ययाति' हुआ है। उसका वंश पृथक् चला है, अतः उससे यह पृथक् है।

परन्तु इसमें तो सब एक मत हैं कि 'पुरु'से अनुमान १५०० वर्ष पश्चात् दुष्यन्त पुत्र भरत उत्पन्न हुए थे।

सुदास,यह सुदास राजाभी बड़ा प्रतापी और महान् विजेता था। ऋग्वेदके अनक सूक्त इसकी प्रशंसामें रचे गये हैं। ऋग्वेद म० ३ सू० ५३ मे सुदासका वर्णन करतेहुये लिखा है कि—

इमे भोजा अंगिरसो विरूपा दिवस्पुत्रो असुरस्य वीराः।
विश्वमित्राय ददता मघानि सहस्रसावे प्रतिरन्त आयुः ॥७॥
विश्वामित्रो यद् वहत् सुदासम प्रिया यत कुशिकेभिरिन्द्रः ॥६
उपप्रेत कुशिकाश्चेतयध्वमश्वं रायो प्रमुञ्चता सुदासः॥११
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् ॥ १२ ॥

अर्थः—हे इन्द्र यज्ञ करने वाले ये भोज सुदास राजा के याचक हैं। (अर्थात्-अगिरा, मेधातिथि, आदि हैं)।

पिजवन के पुत्र सुदास राजा को विश्वामित्र ने यज्ञ कराया था, तब कुशिक गोत्रोत्पन्न ऋषियों के साथ प्रिय व्यवहार किया था। हे कुशिकपुत्रो। अश्व को उत्तेजित करके धन के लिये सुदास राजा के अश्व को छोड़ दो। इन्द्र ने सपूर्ण वाधाओं को दूर कर दिया है; अतः सुदास राजा पृथ्वी के उत्तमस्थ में यज्ञ करे। विश्वामित्र का यह स्तोत्र भरत-कुलोत्पन्न सुदास आदि की रक्षा करे।

तथा च ऋग्वेद मं० ७ सूक्त १८ के मन्त्र २२-२५ मंत्रों के 'सुदास' देवता है। तथा वसिष्ठ ऋषि हैं। यहां वसिष्ठ ऋषि लिखते हैं कि—

अर्णांसिचित् पप्रथाना सुदास इन्द्रो गाधान्यकृणो-त्सुपाक ॥ ५ ॥ पुरोलाइत्तुर्वशो यक्षुरासीद्राये मत्स्यासो निशिता अपीव ॥ ६ ॥ मध्ना विव्यक् पृथिवीं पत्यमानः पशुष्कविरशय च्चायमानः ॥ ८ ॥ सुदास इन्द्रः सुतुकां अमित्रान रन्धयन्मानुषे वध्रिवाचः । ९ ॥ एकं च यो विंशतिं च श्रवस्या वै कर्णयोर्जनान् राजान्यस्तः ॥११ ॥ व्यानवस्य तृत्सवे गयं भाग्जेष्म पूरुं विदथे गृध्रवाचम् ॥ १३ ॥ अवसुक्तीर्वैश्या वृश्चदिन्द्रः प्रायच्छद्विश्वाभो-जना सुदासे ॥ १७ ॥ दिवो दासं न पितरं सुदासः ॥ २५ ॥

अर्थः—हे स्तवनीय इन्द्र ! आपने परुष्णी नदी की विकट धार को पार करने योग्य बनाया था।

तुर्वश और सुदास को जेल में से निकालकर हे इन्द्र। आपने तुर्वश का वध किया और सुदास की रक्षा की थी। इन्द्र की कृपा से सुदास विश्वव्यापक—जगत-प्रसिद्ध होगये थे।

चयमान का पुत्र कवि, पालित पशु, सुदास राजा द्वारा मारा गया था।

सुदास के लिये इन्द्र ने वकवादी (पुरु या उसके साथी) शत्रुओं को उनको उनकी सन्ततियों के साथ वश में किया था। कीर्तिप्राप्त करने के लिये राजा सुदास ने दो प्रान्तों के २१ राजाओं का वध कर डाला था। जैसे युवक याज्ञिक यज्ञ गृह में कुश काटता है वैसे ही सुदास राजा शत्रुओं को काटता है। वीर इन्द्र ने सुदास की सहायता के लिये मरुतों को उत्पन्न किया था।

अनु के पुत्र के गृह को इन्द्र ने तृत्सु को दिया था।

हे इन्द्र! ऐसी कृपा करो कि जिससे हम दुष्टभाषी शत्रुओं को जीत सकें। दिवोदास के पुत्र सुदास के गृह की रक्षा करो।

सुदास के विषय में विचारणीय बातें।

(१) ऋग्वेद मं० ३।५३।१२।। में सुदास को 'भारत' कहा है, इससे स्पष्ट है कि यह किसी भरत की सन्तान में से है।

(२) ऋग्वेद, मं० ७। १८। २३।। में इन्द्र को अर्हन् अग्नि लिखा है।

अर्हन्नग्नेः पैजवनस्य दानम्।

यहां सुदास को पैजवन कहा गया है; क्योंकि इसके पिता का नाम पिजवन था। पिजवन और दिवोदास एक व्यक्ति के दो नाम थे। यहाँ विचारणीय यह है कि यहाँ इन्द्र को अर्हतों की अग्नि क्यों कहा गया है। 'अर्हत' जैन तीर्थङ्करोंके लिये सुप्रसिद्ध है। अतः क्या इससे ऋषभदेव तीर्थङ्कर का बोध नहीं होता है? क्योंकि जैनतीर्थङ्करों में प्रायः सूर्यवंशी थे।

सुदास भरत वंशका था

इस दाशराज युद्ध का नायक 'सुदास' भरतवंश का था। ऋ मं० ३।५३।२४। में स्पष्ट लिखा है कि—

इम इन्द्र भरतस्य पुत्राः ।।

हे इन्द्र! ये सुदास आदि भरत के पुत्र हैं, अर्थात भरत वंशीय हैं।

तथा च ऋग्वेद मं० ६।१६।१९ में सुदास के पिता दिवोदास को 'भारत' कहा गया है। यथा--

अग्निरगामि भारतो वृत्रहा पुरु चेतनः।
दिवो दासस्य सत्पतिः ॥ १९ ॥

अर्थात्--अग्नि, हवि के स्वामी, भरत कुलोत्पन्न दिवोदास राजा के शत्रुओं को नष्ट करने वाले हैं।

उपरोक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि सुदास और उसके पिता व पितामह आदि भरतवंश के थे तथा पुरु, यदु और तुर्वश आदि जो सुदास के प्रतिपक्षी थे, वे चन्द्रवंशी थे। चन्द्रवंश व सोमवंश तथा मानववंश और ऋषभवंश आदि शब्द भी उस समय एकार्थवाची शब्द थे।

भारतवर्ष का इतिहास में पं० भगवद्दत्तजी बी० ए० ने लिखा है कि- "चन्द्रवंशियों को वैदिक-साहित्य में मानव नहीं कहा है।"

अत. यह सिद्ध है कि वैदिक वाङ्मय में 'मानव' भी मनु की सन्तान को ही कहा गया है।

इसी भरत अथवा मानवजाति को ऐतिहासिकों ने भारत की आदिम अनार्यजाति कहा है तथा अनेक ऐतिहासिक विद्वानों ने इस जाति को सूर्यवंशी आर्य जाति माना है, तथा इस जाति को भी विदेशी जाति कहा है। परन्तु यह मत हमको स्वीकार नहीं है। हमारा पूर्ण विश्वास है कि यह सूर्यवंश यहीं का मूलनिवासी था और इसका धर्म अहिंसकधर्म था। ये लोग अहिंसक यज्ञ किया करते थे। हिंसक यज्ञों का प्रचार यहाँ चन्द्रवंशियों ने किया है।

वृषभ कुल

ऋग्वेद मं० ८ के बालखिल्य सूक्त मे लिखा है कि—

उपमं त्वा मघोना ज्येष्ठश्च वृषभाणाम ॥ ५१ ॥

अर्थात् हे इन्द्र ! आप धनियोंके लिये उपमेय हो तथा वृषभों मे सब मे बड़े अथवा श्रेष्ठ हो। इससे ज्ञात होता है कि उस समय एक वृषभ कुल भी था।

सुदास की वंशावली

श्रीमान् पं० भगवद्दत्त जी बी०ए० ने 'भारतवर्ष का इतिहास' मे सुदास की वंशाली निम्न प्रकार लिखी है।

सुदास—वायु में इसे हंसमुख लिखा है। तथा मत्स्य पुराण मे सर्वकाम और सुदास दोनों नाम छूट गये हैं। हरिवंश के अनुसार एक सुदास राजा इन्द्रसखा था।

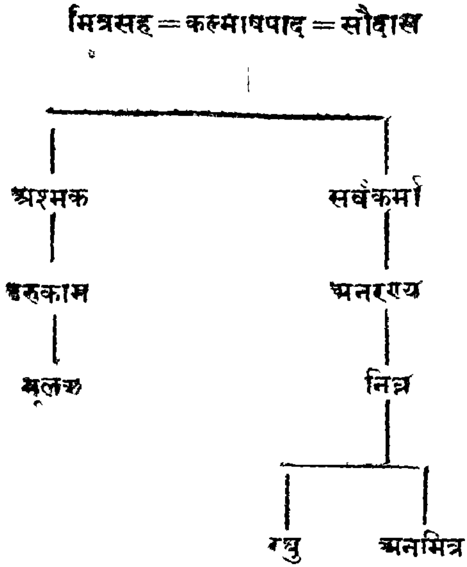
कल्माषपाद—मित्रसह—सौदास कल्माषपाद बहुत प्रसिद्ध हो चुका है। वसिष्ठ-पुत्र शक्ति ऋषि ने कल्माषपाद को कोई शाप दिया था। कहीं कहीं लिखा है कि राजा कल्माषपाद को वसिष्ठ ने शाप दिया। पार्जिटर ने दोनों पक्ष एकत्र करके अच्छी विवेचना की है। महाभारत आदि पर्व १६८।५ पूना संस्करण के कुछ अच्छे हस्तलेखों मे वसिष्ठ का ही शाप लिखा है। कदाचित् इसी शाप के कारण वह बारह वर्ष तक जंगलों मे फिरता रहा। आदि पर्व मे यह कथा वर्णित है। पूना संस्करण के पांचवें श्लोक मे वसिष्ठस्य के स्थान मे वासिष्ठस्य पाठ अधिक युक्त है। यह पाठ कुछ कोषों मे मिलता भी है। इस राजा की स्त्री का

नाम मदयन्ती था। वसिष्ठ ने राजा की प्रार्थना पर उससे एक नियोगज पुत्र उत्पन्न किया। रामायण में इसे प्रवृद्ध लिखा है। कौषीतकि ब्राह्मण में लिखा है—

वसिष्ठोऽकामयतहतपुत्रः प्रजायेय प्रजया पशुभिरभि सौदासान् भवेयमिति ४। ८॥

इस वचन से वसिष्ठ और कल्माषपाद आदि सौदासों का कलह स्पष्ट है। सौदास कथा रामायण उत्तर काण्ड के ६५ वें सर्ग मे भी है।

पौराणिक वंशावलियों का मत भेद—कल्माषपाद या सौदास के पश्चात् पौराणिक वंशावलियोंमे पर्याप्तभेद है। वायु, ब्रह्माण्ड और विष्णु एक वंशावली लिखते है, तथा हरिवंश, मत्स्य और महाभारत मे एक और वंशावली है। रामायण का इन दोनों से भेद है। अध्यापक सीतानाथ प्रधान ने पुराणो का भेद भले प्रकार ठीक किया है। हम समझते है रामायण की वंशावली भी ठीक होसकती है। अभी हम प्रधान महोदय के अनुसार थोड़ा सा वंश-वृक्ष देकर उसका विवरण लिखेंगे—



अश्मक और उसका कुल—प्रतीत होता है अश्मक ने एक नया राज्य बसाया। दक्षिण का अश्मक राज्य यही होगा। महाभारत में लिखा है कि अश्मक ने पोतननगर बसाया पोतननगर चिरकाल तक अश्मकों की राजधानी रहा है। अश्मक के पौत्र मूलक ने मूलक राज्य बसाया। मूलक भी दूर तक अश्मकों की राजधानी रहा है। मूलक के विषय में वायुपुराण में एक पुरातन गाथा उद्धृत है। उसमें लिखा है कि मूलक राजा (जामदग्न्य) राम के भय से सदा स्त्रियों से घिरा रहता था। मानों उसने नारी कवच धारण कर रखा था।

सर्वकर्मा और उसका कुल—सर्वकर्मा अयोध्या में राज करता होगा। यही सौदास दायाद था। अश्मक से यह बहुत

छोटा होगा। अनुमान होता है कि अश्मक शीघ्र मारा गया। उसका पुत्र या पौत्र मूलक जामदग्न्य राम के भय से छिप रहा था। सर्वकर्मा भी किसी पराशर के आश्रम मे पलरहा था। उसके लिये भी राम का भय था। उस समय के कई समकालीन राजकुमारों का उल्लेख महाभारत में मिलता है।

सुदाम की वंशावली

(१) मनु, नाभि,

(२) इक्ष्वाकु, ऋषभदेव (मनु)

(३) भरत (विकुक्षी, शशाद, सोलहवें मनु सूर्य।)

(४) पुरंजय (देवश्रवा, अककीर्ति, ककुत्स्थ),

(५) अनेना (अनरण्य) (६) पृथु

(७) विष्वगश्व (८) आर्द्र

(९) युवनाश्व-प्रथम (१०) श्रावस्त

(११) बृहदश्व (१२) कुवलाश्व

(१३) दृढाश्व (१४) प्रमोद

(१५) हर्यश्व-प्रथम (१६) निकुंभ

(१७) संहताश्व (१८) कृशाश्व

(१९) प्रसेन जित (२०) युवनाश्व (द्वितीय)

(२१) मान्धाता (महान प्रतापी चक्रवर्ती हुआ है)

(२२) पुरुकुत्स, (२३) त्रसदस्यु

(२४) संभूत (२५) अनरण्य (द्वितीय)

(२६) त्रसदश्व (२७) हर्यश्व (द्वितीय)

(२८) वसुमान, (२९) त्रिधन्वा,

(३०) त्रयारुण, (३१) सत्यव्रत, (त्रिशंकु)
(३२) हरिश्चन्द्र, चक्रवर्ती (३३) रोहित, (रोहिताश्व)
(३४) हरित (३५) चंचु
(३६) विजय (३७) रुरुक
(३८) वृक (३९) बाहु
(४०) सगर (चक्रवर्ती (४१) असमंजा
(४२) अंशुमान (४३) दिलीप (प्रथम)
(४४) भगीरथ (४५) श्रुत
(४६) नाभाग (४७) अम्बरीप
(४८) सिन्धुद्वीप (४९) अयुतायु
(५०) ऋतुपर्ण (५१) देवोदास, (पिजवन)
(५२) सुदास, (५३) कल्मापपाद (सौदास)
(५४) सर्वकर्मा (५५) अनरण्य, (५६) निघ्न,
(५७) रघु प्रथम, (५८ च्युतमित्र
५९) दिलीप,
(६०) रघु द्वितीय इसी से रघुवंश चला।
(६१) अज (६२) दशरथ
६३) श्री रामचन्द्र (१)—

यदि उपरोक्त वंशावली को ही ठीक मान लिया जाय, तो भी यह सिद्ध होता है कि भगवान् रामन्द्र से भी दश पीढ़ी पूर्व तथा दुष्यन्त-पुत्र 'भरत' से १८ पीढ़ी अर्थात् एक हजार वर्ष पहले

---

(१)—यह तथा 'पुरु की वंशावली पं० भगवद्दत्तजी बी० ए० द्वारा लिखित 'भारतवर्ष का इतिहास' के अनुकूल है। किन्तु २-३ नामों का अन्तर किया गया है।

भी यहाँ तक भरत जाति रहती थी और इसी भरत जाति के नाम से इस देशका नाम 'भारत' या भारतवर्ष था' पुनः भारत के नाम करण का कारण दुष्यन्त-पुत्र भरत को बताना केवल निराधार कल्पना मात्र है।

मनु और भारत

जब यह सिद्ध हो चुका कि दुष्यन्त-पुत्र 'भरत इस 'भारत' के नाम करण का कारण नहीं है, तब यह विचारणीय है कि वह कौन भरत महाराज हैं जिनके नाम से इस देश का नाम भारत प्रसिद्ध हुआ।

जैन आदि पुराण में १६ मनु बताये गये है उनमें अंतिम मनु हमारे प्रतिपाद्य 'भरत' महराज को कहा गया है।

नाभिश्चतन्नाभि निकर्त्तनेन प्रजा समाश्वासनहेतुरासीत्।
सोऽजीजनत् तं वृषभं महात्मा सोप्यग्रसूनु मनुमादिराजम्॥

आदि पु० पर्व ३।२३६

अर्थात नाभिराय के प्रथमतीर्थंकर श्री ऋषभनाथ उत्पन्न हुए तथा श्री ऋषभदेव के आदि सम्राट सालवें मनु महाराज भरत उत्पन्न हुये। तथा च इसी पुराण के पर्व ३६ के प्रारम्भ में ही भरत महाराज को सोलवां मनु तथा प्रथम सम्राट कहा गया

यदि इन वंशावलियों के नाम प्रसिद्ध २ राजाओं के नाम हैं, जैसा कि अनेक विद्वानों का मत है, तो यह मानना पड़ेगा कि दुष्यन्त पुत्र भरत से हजारों वर्ष पहले भी इस देश का नाम 'भारत' था।

है। तथा वहां ही इस पर उठने वाली शंका का भी श्री आचार्य जिनसेन स्वामी ने समाधान किया है। अभिप्राय यह है कि इन्हीं 'भरत' महराज का नाम मनु भी था। परन्तु यह नाम नहीं था अपितु यह उनकी उपाधि थी। वास्तव में आपके दो नाम थे; एक 'भरत' और दूसरा 'सूर्य' भरत के नाम से 'भारत' वंश अथवा भरतवंश प्रचलित हुआ और सूर्य के नाम से सूर्यवंश चला।

अब उस अनुश्रुति की सगति लग गई जिसमें लिखा है कि—

भरणात् प्रजनाच्चैव मनुर्भरत उच्यते ।
निरुक्तवचनश्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम् ॥

मत्स्य पुराण, १४ । ५ ॥

अर्थात् प्रजा का भरण पोषण करने से मनु महाराज का नाम भरत है। उन्हीं के नाम से इस देश का यौगिक नाम भारतवर्ष है।

तथा च वायुपुराण में भी इसीका समर्थन किया है।

भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते ।

प्रथम खण्ड, अ० ४५ । ७६

उपरोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि आदि सम्राट भरत महाराज को मनु भी कहते हैं। तथा च वायु पुराण में जहां मनु का नाम भरत बताया गया है वहां यह भी बता दिया है कि यह 'भरत' श्री ऋषभदेवके पुत्र थे और उन्हीं के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ है। (१)—

---

(१)—इस विषय में वायुपुराण के प्रमाण पुराणप्रकरण में आगे दिये हैं। देखो वायुपु० पूर्व अ० ३३ श्लोक ५० से ५२ तक

अतः समस्त भारतीय परम्परा हमारे मत की पुष्टि करती है।

उक्त प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि श्री ऋषभदेव के पुत्र 'भरत' थे। तथा उनको 'मनु' भी कहते है, क्योंकि वे भी कुलकर थे अर्थात् उनके नाम से ही वंशपरम्परा प्रचलित हुई। उस समय कुलकर को ही 'मनु' कहते थे। तथा वायुपुराण ने यह कहकर कि मनु का नाम ही 'भरत' है और उन्हीं के नाम से इस देश का नाम 'भारत' हुआ।

तथा च आगे लिखकर कि—

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥ ५१ ॥

तस्माद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥ ५२ ॥

वायुपु० पूर्वार्द्ध अ० ३३ पृ० ५१

अर्थात् श्री ऋषभदेव जी के १०० पुत्रों में सबसे ज्येष्ठ 'भरत' थे। भगवान् ऋषभदेव भरत को राज्य देकर मुनि होगये। उन्हीं भरत के नाम से इस देश का नाम 'भारत' हुआ।

यह सिद्ध कर दिया कि जिस मनु को हम भरत कह रहे हैं वे 'मनु' स्वयं श्री ऋषभदेव के पुत्र ही हैं। कोई अन्य मनु नहीं है।

अतः जैन और अजैन पुराणों से यह सिद्ध होगया कि श्री ऋषभदेव के पुत्र भरत से ही इस देश का नाम 'भारत' हुआ।

यदि ऐसा न मान कर कोई यह हठ करे कि 'मनु' के नाम से ही इस देश का नाम 'भारत' हुआ तो वह बड़ी भारी भूल करेगा।

क्योंकि 'मन' किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है अपितु यह एक उपाधि है।

मनु और भरत

(प्रश्न) यजुर्वेद अ० ३७ म० १२ मे प्रजापति मनुका उल्लेख है। यहाँ इस पृथ्वी को मनु की अश्वा (घोड़ी) कहा है (मनोरश्वासि) इस मन्त्र के भाष्य मे महीधराचार्य लिखते है कि—

"हे धर्मोत्तरभूमे ! त्वं मनोः अश्वा. वड़वा असि-वहनाय अश्वा ह। इयं भूत्वा मनुमुवाह, इति श्रुतिः ।"

अर्थात्—यह पुण्य भूमि मनु महाराज की सवारी के लिये घोड़ी है। यही बात श्रुति मे कही है कि यह पृथ्वी अश्वा होकर मनु को प्राप्त हुई। शतपथ १४ । १ । ३ । मे लिखा है कि प्रजापतिर्वैमनुः अस्याः पृथ्व्याः पतिः प्रजापतिः अर्थात प्रजापति मनु इस पृथ्वी के पति हैं। अतः यह बात सिद्ध है कि मनु के नाम से ही इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ है। तथा च रघुवंश में भी कहा है।

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीत् महीभृतामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥

अर्थात् वैवस्वत मनु इस भारत के आदि राजा हुये। रघुवंश की यह बात सम्पूर्ण ऐतिहासिकों ने मानी है। सब से पहले राज-नियम का बनाने वाला मनु ही माना जाता है। अतः वैदिक साहित्य, पुराणों एवं काव्यों के आधार पर तथा इतिहास

और परम्परा की अनुश्रुति से यह बात सिद्ध है कि इस देश का नाम मनु के नाम से भारतवर्ष हुआ। तथा वैदिक साहित्य में जिन भरतों का उल्लेख है वे भी मनु के कुल के व्यक्ति हैं क्योंकि इन का नाम भी भरत था और ये सूर्यवंशी भी थे। तथा इन के कुल का पुरोहित भी वसिष्ठ था।

मनु और महाभारत

मार्तण्ड मनुर्धीमानजायत सुतः प्रभुः।
यमश्चापिसुतो जज्ञे ख्यातस्तस्यानुजः प्रभुः।
धर्म्मात्मा स मनुर्धीमान्यत्र वंशः प्रतिष्ठितः।
मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत्॥
ब्रह्मच्छत्रादयस्तस्मान्मनोर्जातास्तु मानवः।
ततोऽभवन्महाराज ब्रह्मक्षत्रेण संगतम्॥
ब्राह्मणा मानवास्तेषां साङ्गंवेदमधारयन्॥

आदिपर्व अ० ७५

अर्थात् प्रजापति (सूर्य) के मनु पुत्र उत्पन्न हुआ था मनु से यम हुआ इसी धर्म्मात्मा मनु के कारण मनुवंश चला जो कि मानव नाम से प्रसिद्ध है। उसी मनु से ब्राह्मण क्षत्रियों ने जन्म लिया जिससे ये सब मानव कहलाये। उनमें से ब्राह्मणों ने वेदादि को धारण किया। उसी समय से ब्राह्मण और क्षत्रियों का

एक रूप से सम्पर्क चला आता है इत्यादि। दक्ष प्रजापति ने एक हजार पुत्र उत्पन्न किये तथा उन सब को सांख्य शास्त्र के अनुसार मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया।

मोक्षमध्यापयामास सांख्यज्ञानमनुत्तमम् ॥

आदिपर्व अ० ८४।७

अर्थात दक्ष प्रजापति की कन्या अदिति से आदित्य और आदित्य से मनु उत्पन्न हुये। यह दक्ष प्रजापति सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक थे। तथा च ऋग्वेद मण्डल ८ सूक्त १६ में प्रजापति (सम्राट) मनु का विशेष वर्णन है।

मनुर्हितो देव आसा सुगन्धिना ॥२४॥

ईले गिरा मनुर्हितम्। २१॥

यहां प्रजापति मनु द्वारा स्थापित अग्नि की स्तुति है। इन्हीं के नाम से इस पुण्य भूमि का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ, तथा इन्हीं के नाम से मानव वंश चला। तथा च भागवत और ब्रह्माण्ड पुराण में जिस ऋषभ पुत्र भरत का वर्णन है वह भी इन्हीं मनु के वंश में उत्पन्न हुये थे ऐसा ही वहां लिखा है। यथा मनु के प्रियव्रत, और अग्नीध्र तथा उस के नाभि, नाभि राज के पुत्र ऋषभ एवं ऋषभ के पुत्र भरत हुये। परन्तु इस भरत से पूर्व भी इस देश का नाम भारत था क्योंकि यह बात पुराण आदि से सिद्ध कर चुके हैं। इसलिये भागवत आदि का कथन ठीक प्रतीत नहीं होता।

इस प्रकार इस देशके आदि राजा मनु महाराज थे, उन्हींके नाम से मानव, मनुष्य, मानुष आदि वंश चले जो कि आज तक

प्रसिद्ध है, और उन्हीं के नाम से भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ, क्यों कि उनका नाम भी भरत था। इत्यादि,

(उत्तर)हम इस मत मे कि मनु के नाम से इस देश का नाम भारतपड़ा सहमत नहीं है[१]। क्योंकि भारतके प्राचीन इतिहास मे अनेक मनु हो चुके हैं। यथा—

(१) स्वयंभुव (२) स्वारोचिष (३) औत्तमि (४) तामस (५) रेवत, (६) चाक्षुष (७) वैवस्वत इसी प्रकार सात सावर्णी मनु भी हो चुके है। सम्भव है इन १४ मनुओं से जैनियों के १४ मनुओ का जिन्हें कुलकर अर्थात् वश संस्थापक कहते है कुछ साम्य हो परन्तु अनुश्रुति क परीक्षण से यह मनुओं की कल्पना बड़ी गड़बड़ मे पड़ जाती है क्योंकिगीता मे४ मनुओ का वर्णन है। यथा—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।

अब प्रश्न यह होता है कि इस मे कौन से चार मनु माने गये है। यहां या तो सात मनुओं का वर्णन होना चाहिये था अथवा १४ का, क्योकि यह माना जाता है कि पहले सात मनु

नोट १— प्रो० इन्द्र एम, ए० ने भी लिखा है कि— कई विद्वानों का कथन है कि 'भरत' किसी और का नाम नहीं अपितु मनु का ही नाम था, परन्तु अधिकतर्कसंगत विचारतो यही प्रतीत होता है कि 'भरत' नाम से वैदिक काल में जिस जाति का वर्णन मिलता है उसी ने इस देश को 'भारत' नाम दिया।

तो हो चुके तथा सावर्णी सात मनु आगे होने वाले हैं। इसका जो समाधान कियाजाता है वह युक्ति और प्रमाण रहित होने से कदापि मान्य नहीं हो सकता। तथा च सावर्णि मनु का उल्लेख ऋग्वेद में कई जगह आया है। ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ६२ सम्पूर्ण इन्हीं सावर्णि मनु के पुत्र की प्रशंसा में लिखा गया है। इसमे सावर्णि मनु का भी उल्लेख है।

सावर्ण्यस्य दक्षिणा विसिन्धुरिव प्रपथे ॥९॥

अर्थात् सावर्णि मनु का दान नदी के समान सर्वत्र व्याप्त है। तथा आगे मन्त्र ११ मे लिखा है मनु, सहस्र गौओं के दाता तथा मनुष्यो के नेता राजा हैं। इस सावर्णि मनु की दक्षिणा सूर्य समान व्याप्त है। इस सावर्णि मनु की आयु देवता लोग बढ़ावे। (सावर्णे देवा प्रतिरन्वायुः)।

यह मनु अङ्गिरा कुल का नेता अथवा पूर्वज था। इसी का नाम शायद अगिरा हो। इसी के अगले सूक्त में वैवस्वत मनु का उल्लेख है।

मनुप्रीतासो जनिमा विवस्वतः। १०। ६३। १

अर्थात् देवता विवस्वान् के पुत्र मनु की सन्तान को धारण पालन करते है। यह मनु अदिति नन्दन आदित्य का पुत्र है तथा सूर्यवंशियों का राजा है।

इसी वैवस्वत मनु का वर्णन महाभारत मे आया है, जिस का वर्णन हो चुका है।

यथा मनौ सांवरणौ सोममिन्द्रा पिवः सुतम्। १।

अर्थात्—हे इन्द्र ! आप ने जैसे सावर्णि (सावर्णि) मनु के सोम का पान किया था। यहां सावर्णि का अर्थ सावर्णि मनु ही किया है। यह मनु कण्व लोगों का नेता था कण्व लोग चन्द्रवंशियों के पुरोहित थे अतः सम्भव है यह चन्द्रवंशियों का प्रथम नेता हो। इसके आगे पुनः वैवस्वत मनु का वर्णन है।

यथा मनौ वैवस्वति सोमं शक्रा पिबः सुतम् ।८।५२।१

हे इन्द्र ! आपने पूर्व समय मे वैवस्वत मनु का सोम पान किया था। इसके अलावा सामवेद मे एक मन्त्र आया है।

पिता यद् कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुकविः पृ० १। २

इस प्रमाण से कई विद्वान् यह सिद्ध करते हैं कि कोई मनु नाम की कन्या कश्यप की पत्नियों मे थी यहां उसी का वर्णन है। तथा उसी के नाम से मानव मानुष आदि वंश चले। पूर्व समय मे विवाह की प्रथा नहीं थी इसलिये वंश माता के नाम से चलता था वही पुरानी प्रथा कुछ समय तक आगे भी चली। पश्चात् वैदिक मध्य काल मे यह प्रथा बन्द हो गई। तथा च ऋग्वेद में एक प्रमाण ऐसा है जिस के बल पर यह बात कही जाती है। (मनुजात् घृत प्रथम) तथा च बालमीक रामायण अरण्य काण्ड सर्ग १४ में स्पष्ट है कि—

अर्थात्—दक्षप्रजापति की ६ कन्यायें कश्यप को ब्याही गई अदिति, दति, दनु, कालका, मनु अनल। अदिति से आदित्य हुये तथा दित से दैत्य दनु से दानव तथा मनु से मानव वश चला। यही बात महाभारत आदि पर्व अ० ६५ मे कही उसी ने इस देश में अपना प्रभुत्व जमा कर इस का नाम भारत रखा। दैनिक हिन्दुस्तान ता० २० माच सं० १६४६ (इस प्रकार यह

गई है।) परन्तु वहां मनु के स्थान में मुनि पाठ है जो कि लेखक अथवा प्रकाशक की भ्रान्तिसे हो गया है कुछ विद्वानों का मत है कि मानव, मानू, मनुष्य, आदि शब्द मनु स्त्री के नाम से प्रचलित हुये हैं।

मनु की नौका

एक मनु नौकावाले मनु के नाम से प्रसिद्ध हैं। अथर्ववेदकां० १९ सू० ३९ मन्त्र ८ में—

यत्र नावप्रभ्रंशनं यत्र हिमवतः शिरः।
तत्रामृतस्य चक्षणः ततः कुष्टो अजायत।

इसका अभिप्राय यह है कि जहां मनु की नौका ठहराई गई थी वह हिमालय है वहां पर कुष्ट औषधि उत्पन्न होती है। कई विद्वान इसको नहीं मानते। वे कहते है कि यहां पर पाठ इस प्रकार का है (न अव प्रभ्रंशनं) जिसका अर्थ 'जहां स्खलन नहीं होता है। अर्थात् जहाँ से गिरना नहीं होता ऐसा मुक्ति स्थान' है परन्तु सम्पूर्ण सूक्त को देखने से ज्ञात होता है कि यह बात ठीक नहीं, क्यों कि यहाँ कुष्ठ औषधि का वर्णन है न कि मुक्ति का। यह औषधि हिमालय पर उत्पन्न होती है तथा मनु की नौका भी हिमालय में ले जा कर बान्धी गई थी। यह कथा शतपथ ब्राह्मण कां० १।८।१।१ में इस प्रकार आई है कि 'मनु महाराज एक दिन नदी किनारे तर्पण कर रहे थे उनके हाथ में मछली आगई मछली ने कहा कि आप मेरा पालन करें मैं आप को पार उतारूंगी, मनु ने कहा तू कैसे पार उतारेगी। तो उसने कहा कि अभी प्रलय होने वाली है उस समय में तेरी प्रजा की

रक्षा करूंगी- इस पर मनु ने एक बहुत बड़ा जहाज बना लिया तथा जब प्रलय हुई तो उस नाव को मछली के सींग के साथ बान्ध दिया, वह मछली उस को ले कर हिमालय चली गई'। मत्स्य पुराण में इसी कथा को विस्तार पूर्वक बढ़ा दिया है तथा उस मछली को वासुदेव का अवतार बना दिया है। मत्स्य पुराण की जो प्रलय है अर्थात् उस समय की प्रलय का जो वर्णन जैसा वहां है वैसा ही जैन पुराणकारों ने माना है। इसी मनु की कथा का ऐसा ही उल्लेख कुरान, तथा बाईबिल आदि ग्रन्थों मे है। वहां नूह की किश्ती प्रसिद्ध है। बाईबिल मे लिखा है कि ईश्वर ने देखा कि पृथिवी पर पाप बढ़ गया है तो वह पछताया और उस ने सब प्राणियोंके नाश की ठान ली परन्तु उसकी कृपा-दृष्टि नूह पर थी अत. उस ने नूह से कहा कि तू एक नौका बना हम प्रलय करेंगे। अत ३००हाथ लम्बी तथा५० हाथ चौड़ी और ३० हाथ ऊंची नौका बनाई गई, प्रलय हुई और नौका मे एक एक जोड़ा सब जीवों का बिठा दिया गया, प्रलय हुई सब प्राणी मर गये केवल उस नौका के प्राणी जीते रहे। मनुष्यों मे केवल नूह और उस की स्त्री जीती रह गई, उसीसे पुन सन्तति चली। मुसल्मानों के यहाँ भी ऐसी ही कथा है। वर्णनशैली का भेद है। नूह और उस का सारा कुटुम्ब बच गया तथा नौका जूदी पहाड़ की चोटी पर जाकर ठहरी। इसी प्रकार संसार के सभी धर्मों में तथा जातियों मे इस प्रलय का वर्णन है।

(१) चीन वाले इसे फोई की प्रलय कहते है।

(२)नान वालो के यहां हुकेलियन।

(३) असीरिया वाले चिसुथूरस के नाम से कहते है।

इसी प्रकार अन्य लोगों के यहां भी इस प्रलय की कथा प्रसिद्ध है। असोरिया की पुरानी खुदाई में भी इस का प्रमाण प्राप्त हुआ है। अतः ऐतिहासिक विद्वान् इस को १०००० हजार वर्ष से पूर्व की घटना बताते हैं। जो कुछ भी हो यह घटना सत्य है इस में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। यह प्रलय बिलकुल जैन मान्यता के अनुकूल है। सुना है इस नूह की कब्र अयोध्या मे है। मत्स्य पुराण के अनुसार यह वैवस्वत मनु है; परन्तु वहाँ लिखा है कि जब प्रलय समाप्त हो गई तो स्वयंभू मनु उत्पन्न हुये और उन्ही से पुनः वंश चला। वैवस्वत मनु सातवां मनु माना जाता है तथा स्वयंभू मनु पहला मनु माना जाता है। तो फिर यहाँ स्वयंभू मनु कहां से आ गये। वास्तव मे तो इस मत्स्य पुराण ने मन्वन्तरों की कल्पना को ही नष्ट कर दिया। अस्तु, हमने इतने मनुओंके प्रमाण उपस्थित किये है। (१) वैवस्वत मनु (२) सावर्णि मनु (३) स्वयंभू (४) स्त्रीमनु इन सबके विषयमे ही ऐसी कहावत है कि इनके नाम से वंश चले सब १४ मनु है। उनमे सात सावर्णि है। यदि ऋग्वेद में हम उन का वर्णन मानें तो सात शेष रह जाते है। उन में सब से पहला स्वयंभू है और सातवां वैवस्वत इन दोनों के प्रमाण हम दे चुके है। अतः शेष पाँच को भी ऐसा ही समझा जा सकता है। अतः १४ मनु और एक काश्यप की स्त्री मनु पन्द्रह व्यक्तियों का एक समान वर्णन मिलता है अतः यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि इनमे से किसको मानव, मानुष, मनुष्य

आदि जातिका आदि कारण मानाजावे क्या यह सब कल्पना मात्र है। अथवा कुछ अन्य रहस्य है इत्यादि अनेक तर्क वितर्क उत्पन्न हो सकते है। इन सब पर गवेषणात्मक दृष्टिसे विचार करना चाहिये। यदि ऐतिहासिक विद्वान इसपर विचार करेंगे तो हमारा अनुमान है कि वे भारतीय प्राचीन इतिहासकी अनेक उलझनें सुलझा सकेंगे।

उपरोक्त मनुओं की संगति लगाने के लिये हमे वैदिक काल के इतिहास पर नजर डालनी होगी तथा आर्य संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करना होगा। आर्य या वैदिक संस्कृति का वर्णन 'भारतीय इतिहासकी रूप रेखा'मे श्रीमान् पं० जयचन्द्रजी विद्यालंकार ने बहुत सुन्दर किया है। वैदिक देवताओं के स्वरूप को भी उन्हों ने ठीक जाना है। उनका कथन है कि वैदिक आर्यों का समाज एक पशुपालक और कृषकों का समाज है।

(२) यह समाज कबीलों के रूप मे था। उन के जन, विश, ग्राम आदि नाम होते थे।

(३) राजनैतिक दृष्टि से विश: अर्थात जिस प्रजाका अपना देश हो और उस का कोई एक नियमपूर्वक राजा हो वह राष्ट्र कहलाता था।

(४) इस जन अथवा समाज में उनके अपने आदमी होते थे परन्तु बाहर के लोगों को भी मिला लेते थे। तथा अपराध करने पर किसी को अपने जनसे बाहर भी निकाल देते थे।

(५) वैदिक आर्यों की राजसंस्था पितामह तन्त्र की थी।

अर्थात् वे राजा को पितामह समझते थे। इस लिये एक राज्य के लोग सजात कहलाते थे।

(६) प्रत्येक जन में जो टुकड़ियाँ होतो वे ग्राम कहलाती थीं। ग्राम का अर्थ पहले जत्था था। इसी का आगे जा कर संग्राम शब्द बना पुनः युद्ध वाचक हो गया।

(७) युद्ध का नेता राजा होता था। बल्कि वैदिक साहित्य से यह भो ज्ञात होता है कि राजा की कल्पना युद्ध के कारण ही हुई है। इत्यादि अब हम इसके आगे देखना चाहते है कि यह जन अथवा विशः कितने भागों मे विभक्त था।

हमारी सम्मति मे गोत्र शब्द भी यहाँ विशेष विचारणीय है। सम्भव है पहले गोत्र शब्द ही जन विशः वाचक हो। स्व-गोत्र मे विवाह न होने का यही अर्थ था कि अपने ग्राममें विवाह न होना। यह गोत्र, प्रथम ग्राम (जत्थे) अथवा जन का जो गुरु था उसके नाम से प्रचलित किया गया था। यही अवस्था मनु की भी है। जिस राष्ट्र का जो राजा था वह प्रजापति कहलाता था इनमे जो पहले पहल प्रजापति हुआ वह मनु कहलाया पूर्व समय मे चार गोत्र प्रवर्तक थे तथा चार हो मनु थे। महा-भारत शान्ति पर्व के २६ वें अध्याय मे यह स्पष्ट लिखा है। तथा च गीता मे "सप्त महर्षयः पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा" में स्पष्ट ही चार मनुओं का उल्लेख है।

आगे जाकर ये पाँच ही गये तथा पाँच ही जन (ग्राम) अथवा विशः कृष्टय आदि हो गये (इसीलिये पंच जना मम होत्रं जुषध्वम्) पाठ प्राप्त होता है। ये पाँचों समूह आर्योंके ही थे। इसके पश्चात

सात मनु हो गये और सात ही गोत्रों के प्रवर्तक भी हो गये। तत् पश्चात आठ मनु हो गये आठवाँ सावर्णि मनु और उत्पन्न हो गया अतः अगस्त्य को मानकर आठ गोत्र प्रवर्तक भी माने गये। अभिप्राय यह है कि मनु और गोत्र का सम्बन्ध रहा है। अर्थात् आर्यों के पहले चार समूह थे उनके चार ही गोत्र प्रवर्तक पुरोहित थे और चार ही मनु अर्थात् प्रजापति थे उसके पश्चात् इन समूहोंमें विभाग होगया और इनकी संख्या बढ़गई तो मनु और गोत्र भी बढ़गये, अर्थात् जिस समूहका जो पहला अधिपति हुआ वह मनु हुआ और जो प्रथम पुरोहित हुआ वह गोत्र प्रवर्तकहुआ इस प्रकार यह आर्यस्कन्द उपरोक्त भागों मे विभक्त था। बस अपने अपने समूह के पुरोहितोंने अपने मनुवों की प्रशंसा लिखी है। आगे जाकर ये लोग अपने २ प्रत्येक राजा के विषय मे स्तुतियां बनाने लगे। इन सबों ने अपने २ राजा को सम्पूर्ण दैवी शक्तियोंसे विभूषित माना है। इसलिये उनका वर्णन भी उन देवोंके रूपमें किया है। यह भाव न समझकर हम लोग अनेक प्रकार की कल्पना कर लेते है। अतः उपरोक्त मनुओं के कथन तो सत्य है परन्तु हैं अपने २ स्कन्ध के लिये 'न कि सम्पूर्ण देश की दृष्टि से। यदि ऐसा न माने तो मनुओं के विषय मे कहे हुये पूर्वोक्त प्रमाणों की कोई संगति ही नहीं है। जैन शास्त्रकारो ने इस जन विशः ग्राम स्कन्द, आदि नामो के स्थान मे कुल नाम रक्खा है जो कि अनुरूप ही प्रतीत होता है। याद रखना चाहिये कि ये पूर्वोक्त १४ मनु उस समय मे हुए थे जब कि आर्य जाति छोटे २ विभागों मे बटी हुई थी। उस समय न इनका अपना कोई देश था और न रहने के मकान आदि थे। आर्य

लोग अपने २ पशुओं को लिये हुये भ्रमण किया करते थे। जिस प्रकार आज भी अनेक जातियाँ घूमती हैं। उसके पश्चात् इन्हों ने अपना नेता बनाया जिसका नाम प्रजापति ग्रामपति अथवा कुलपति आदि रक्खा। इन समूहों मे दो समूह मुख्य थे एकका नाम हम सूर्यवंशी समूह कहते हैं, तथा दूसरा चन्द्रवंशी समूह था। इसके अलावा और भी समूह थे। इन कुल-पति मनुओं में से हम किसी को भी भारत नाम का कारण नहीं कह सकते। तथा च वेदों से हम को एक और भी रहस्य का ज्ञान होता है। जिसको हम आगे दिखलावेंगे। कुछ ऐतिहासिकों का यह मत है कि भारत में आर्य लोग बाहर से आये। कहाँ से आये तथा कब आये यह अभी विवादास्पद है। बाहर से आने वालों मे पहले सूर्यवंशी थे तथा पश्चात् जो आये वे चन्द्र-वंशी थे। चन्द्रवंशियों का मुखिया पुरुरवा था जिसका युद्ध भारतों से हुआ था। अब हम यदि मनुओं पर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि मनुओं का युद्ध अनार्यों से हुआ था। यथा—

यया मनुर्विशिशिप्रं जिगाय। ऋग्वेद मं० ५। सू४५।६

अर्थात—जिस स्तुति से मनु ने मनुविहीन अनार्यों को जीता था। इत्यादि अनेक मन्त्रों से यह विदित होता है कि मनुओं ने अनार्य लोगों से ही युद्ध किया था। इसके अलावा मनु के जन तथा विशों का ही वर्णन है। यथा—

मानुषा जनाः। ऋ० ६। २। ३

यहां मनु सम्बन्धी जन कुलों का उल्लेख है। तथा च ऋ०-मं० ६। १४। २ में मनुषो विशः) से मनु के विशों समूहों का

(कुलोंका) उल्लेख है। आगे मं० ६। सू० १६ मं० ८ में भी मनुके विशोंका उल्लेख है। इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि उस समय मनु भारतके सम्राट नहीं थे अपितु अपने २ कबीलोंके प्रजापति थे। जिस प्रकार आज भी सीमा प्रांत मे अपने २ कबीलोंके नेता होते थे। इस मनुका राज्य भी वहीं था क्योंकि उससमय उनकी (पस्तो) भाषा थी और ये शिविलोग थे। तथा च मनु और उन के देवता मद्य मांस के विशेषतया सेवन करने वाले थे। ऋग्वेद मं० ५ सू० २६ मं ७ मे लिखा है कि इन्द्र ने तीन सौ भैसों का मांस खाया तथा मनु के तीन पात्र शराब के पिये। (मनुषः सरामि सुत पिबद्) तथा मं० ६ सू० ७ मं० ११ मे सोम के स्थान मे मदिरा शब्द स्पष्ट पड़ा हुआ है। वह सोम के अर्थ मदिरा बतला रहा है उपरोक्त विवेचन से हम इतनी बातों का पता लगा सकते हैं कि—

(१) मनु के समय मे कुलों की प्रथा थी, कोई राज्य व्यवस्था न थी।

(२) उस समय विवाह आदि का नियम नहीं था तथा अन्य भी धार्मिक बातों का लोगो को कुछ ज्ञान नही था।

(३) आर्य लोग कृषि तथा पशु पालन पर ही जीवन निर्वाह करते थे।

(४) ये कुल आर्यवंश के थे तथा मनु इन का नेता था।

(५) उपरोक्त सूर्यवंशी मनुओं का कुल भारत वर्ष मे पहले आया। तथा सीमा प्रांत की तरफ आकर बसा। इन को वेद में भलनाशा तथा पकथा कहा है।

उपरोक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि मनु नाम का कोई व्यक्ति विशेष नहीं हुआ, अपितु यह एक

उपाधिवाचक शब्द है। यह उपाधि अति प्राचीन काल में प्रतापी तथा विजयी राजाओं अथवा नेताओं को दी जाती थी यही कारण है कि जैन शास्त्र में श्री ऋषभदेव जी तथा भरत जी को भी मनु की उपाधि दी गई है। मत्स्यपुराण की प्रलय के पश्चात् स्वयंभू मनु के उत्पन्न होने का कारण भी यही है। बस जब मनु कोई व्यक्ति विशेष ही नहीं हुआ तो उसके नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष कैसे हो सकता है। यदि यह मानें कि जिस व्यक्ति को मनु की उपाधि प्राप्त हुई, उसी के नाम से यह भारत वर्ष प्रसिद्ध हुआ तो भी ठीक नहीं क्योंकि अनेक व्यक्तियों को यह उपाधि प्राप्त हो चुकी है, इस लिये कौन से मनु को इस भारत के नामका कारण माना जावे यह प्रश्न बाकी रहता है जिसका हल करना असंभव है। यदि इन सब बातों पर विचार न करे तो भी भारतीय साहित्यमें जो विरोध होगा उसका क्या समाधान हो सकता है। भारतीय साहित्यके अनेक प्रमाण हम उपस्थित कर चुके हैं। तथा आगे भी अन्य प्रमाण दिये गये हैं। जिन में यह स्पष्ट उल्लेख है कि इस देशका नाम श्री ऋषभदेव जी के पुत्र भरत से भारतवर्ष पडा है। ऐसी अवस्था में मनु को इस देश के नाम का कारण मानना युक्तियुक्त नहीं है। हां यदि भरत जी का नाम ही मनु मानलें जैसाकि माना गया है तब तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। इसी भरत के पुत्रों का वर्णन वेद में है।

अमन्थिष्टां भारता रेवदग्निम् देवश्रवा देववातः सुदक्षम्।

ऋ० ३। २३। २

अर्थात्—भरत के तीन पुत्रों ने अग्नि को मंथन द्वारा उत्पन्न किया। उन पुत्रों का नाम था (१)देवश्रवा (२)देववात (३)सुदक्ष

जैन साहित्य में भरत के सब से बड़े पुत्र का नाम अर्ककीर्ति अथवा आदित्ययशः है। देवश्रवा और अर्ककीर्ति आदित्ययशः आदि शब्द सामानार्थक हैं। इसलिये जैन साहित्य और वेदका कथन परस्पर मिल जाता है। इस वैदिक प्रमाणोसे भीम नु, तथा दौष्यन्ति भरत की मान्यता का स्पष्ट खण्डन होता है क्योंकि दौष्यन्ति भरत के तो कोई सन्तान ही नहीं थी, अन्त में जाकर उसने एक पुत्र गोद लिया था। इस प्रकार किसी भी मनु के तीन पुत्रों का कथन भारतीय साहित्य मे नहीं है, इस लिये श्री ऋषभदेव जी के पुत्र भरत के कारण ही इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ यह वेद ही से सिद्ध है।

भरत और सूर्य

भरतः आदित्यस्तस्य भा भारती (निरुक्त)

इस वंश का नाम सूर्यवंश क्यों है इस विषय में किसी ने भी सत्य उत्तर नहीं दिया। अतः इसप्रश्न को हल करना चाहिये। निरुक्तकार यास्काचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि भरत का ही नाम सूर्य है, इसी की कीर्ति यह भारती अर्थात् भारतवर्ष है। यद्यपि भारती नाम भाषा या उसकी अधिष्ठात्रीदेवी का भी है परन्तु यहां भारतवर्ष ही अर्थ अभिप्रेत है। शतपथ ब्राह्मण में भी स्पष्ट लिखा है कि (भरतः एषः सूर्यः)। अर्थात् भरत ही सूर्य है। तथाच (अग्निर्वै भरतः। शतपथ।१।४।२।२ अर्थात् अग्नि ही भरत है। अग्नि और सूर्य एकार्थ वाचक भी हैं। ऋग्वेद मण्डल १सू० ६६ में इसका सुन्दर वर्णन है। यथा—

ऊर्जः पुत्रं भरतं सुप्रदानुं देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥२॥

इसमन्त्र का अर्थ करते हुए श्री सायणाचार्य लिखते हैं कि (प्राण रूपेण सर्वासां प्रजानां भर्तारम्) अर्थात् प्राण रूप होकर सम्पूर्ण प्रजाका पालन करने वाले भरत। यह हुआ ऊर्जपुत्रका अर्थ। आगे आप लिखते हैं कि—

सुप्रदानुं अविच्छेदेन धनानि प्रयच्छन्तम्।

अर्थात्—बिना वाधा के निरन्तर दान देने वाला। ऐसे दानी भरत को देवों ने धारण किया। इस मन्त्रमें अग्नि शब्द भरत का विशेषण है इसलिये (देवा अग्नि धारयन्) अर्थात् देवों ने अग्नि भरत को धारण किया यह अर्थ है। सायणाचार्य जी का अर्थ यद्यपि सुन्दर है फिर भी हम उससे सहमत नहीं हैं, क्योंकि यहाँ ऊर्ज शब्द है जिसके अन्न बल आदि अनेक अर्थ हैं। सायणाचार्य जी ने भी अन्न अर्थ किया है परन्तु उनको भी वह अर्थ उपयुक्त नहीं जंचा क्योंकि उस अर्थ से मन्त्र की कुछ भी संगति नहीं लगती अतः उन्होंने दूसरा अर्थ किया, जिसको हमने यहाँ उद्धृत किया है। यह अर्थ भी इस लिये ठीक नहीं कि ऊर्ज शब्द का अर्थ— बल उत्साह आदि होता है और यही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। इसी सूक्त के प्रथम मंत्र में इसको स्पष्ट कर दिया है।

सः प्रत्नथा सहसा जायमानः कव्यानि बलधत्तविश्वा।
आपश्च मित्रं धिषणा च साधन् देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् ॥ १ ॥

अर्थात्—सहसा बल से उत्पन्न अग्नि, उत्पन्न होते ही अर्थात् जन्मते ही पुराने सम्पूर्ण काव्यों को सद्यः शीघ्र ही धारण कर लिया। अर्थात् वह जन्मते ही ज्ञानी हो गया तथा च शीलस्वभाव रूपी वाणी उस का मित्र रूप से कार्य सिद्ध करने लगे। ऐसे दानी अग्नि को देवों ने धारण कर लिया। आगे लिखा है।

स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्।
विवस्वता चक्षसाद्यामपश्चादेवा धारयन्द्रविणोदाम्॥

अर्थात्—उस अग्नि ने पूर्व कवियों की कविता अर्थात् उपदेशानुसार मनुओं की प्रजा को उत्पन्न किया अर्थात् उसे शिक्षित करके उस सांचे मे ढाल दिया। उसके पश्चात् अपने तेज से द्यु लोक और अन्तरिक्ष लोक का स्वामी होगया। अपः का अर्थ समुद्र और द्याम् का अर्थ पार्वतीय देश है। यह अग्नि कौन है यह मन्त्र उनमे लिखा है जिसको हम लिख चुके हैं। वह सम्राट भरत है। इस मन्त्र में कई शब्द बड़े महत्व के हैं। एक तो मनूनां प्रजा यहां मनु शब्द के बहुवचन होने से सिद्ध हो गया कि यह भरत सब मनुओं के बाद हुआ। तथा यह भी सिद्ध होगया कि मनु और भरत एक नहीं हैं अपितु पृथक्-पृथक् हैं। दूसरा शब्द है (पूर्वया निविदा) अर्थात् पूर्व उपदेशके अनुसार उसने प्रजा को सांचे मे ढाल दिया। यह पूर्व का उपदेश इन भरत महाराज को पिता जी से मिला था जिसका नाम यहां सहसा अर्थात् बल है वेदों में अनेक बार अग्नि को सहस (बल) का पुत्र माना है। फिर यहां तो ऊर्ज शब्द भी है जिसके पुत्र भरत बतलाये गये है। यह सब एक ही व्यक्ति के नाम हैं। जिस

को हम ऋषभदेव के नाम से जानते हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण में जोकि सामवेद का ब्राह्मण है स्पष्ट लिखा है कि—

वीर्यं वा ऋषभः। तां १८। ६। १४

अर्थात्— वीर्य, बल, ऋषभ है। अतः सिद्ध होगया कि ऊर्ज सहस तथा ऋषभ आदि शब्द एकार्थक हैं। अतः इस पुण्य भूमि के प्रथम चक्रवर्ती का नाम भरत तथा सूर्य है। इसी से भारतवर्ष नाम इस देश का हुआ। पहले इस देश का नाम अंजनाभ' था, (यह भागवतमें लिखा है) अबसे यह भारत कहलाने लगा और इन्हीं के नाम से सूर्यवंश चला। इस चक्रवर्ती ने समुद्रों पर तथा पहाड़ी देशों पर भी अपनी विजय वैजयन्ती फहराई थी यह वेद भगवान ने सिद्ध कर दिया, भगवान ऋषभदेव का वर्णन हम अपने दूसरे ग्रन्थ में करेंगे उनकी स्तुतिमें तो वेदों का बहुत बड़ा भाग रचा गया है। इसी प्रकार भरत महाराज तथा भारतों के लिये भी वेद ने बहुत कुछ स्पष्ट सिद्ध किया है हम लोग वैदिक शैली को भूल गये हैं इसलिये यह सब विवाद है, परन्तु अब तो प्रकाश का समय है इसलिये अवश्य ही प्रकाश होगा। जिस प्रकार निरुक्त में भारती को सूर्य की शोभा कहा है उसी प्रकार ऋग्वेद मं ३। ६२। ३ में भी भारती को सूर्य की पत्नी लिखा है इससे भी भारत भूमि हो अभिप्रेत है।

महाभारत और भरत

भारतवर्ष का सब से प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ महाभारत समझा जाता है, अतः महाभारत इस विषय में क्या प्रकाश

डालता है यह देख लेना आवश्यक है। इससे पूर्व कि हम महाभारत से इस विषय का विवेचन करें यह जान लेना जरूरी है कि महाभारत की रचना का उद्देश्य क्या है। इस विषय पर महाभारतमीमांसाकार श्री रायबहादुर चिन्तामणि जी वैद्य ने अच्छा प्रकाश डाला है। आप के लेख का सार यह है पहले यह ग्रन्थ भारत के रूप में था परन्तु भारत को महाभारत बनाने में एक विशेष महत्व था। आपका कथन है कि सौति काल में जैन और बौद्धों का प्राबल्य था। सम्पूर्ण भारत मे उनका बोलबाला था। वैदिक क्रियाकाण्ड से लोग घृणा करने लगे थे तथा उनके ही कारण जनता ब्राह्मणों से भी नफरत करने लगी थी इस लिये जनता ने बौद्ध धर्म और जैन धर्म को स्वीकार कर लिया था क्योंकि यह धर्म सरल एवं सुबोध थे। उधर ब्राह्मण धर्म कई भागों में विभक्त था जैसे कि वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर्य आदि। इन मतों में भयानक कलह हो रहा था। इस घर की कलह ने आग में घृत की आहुति का कार्य किया। बस ब्राह्मण धर्म अन्तिम श्वास लेने लगा। इसी के पुनरुद्धार के लिये सब से प्रथम और अत्यन्त उपयोगी प्रयत्न सौतिने महाभारतकी रचना करके किया। इसमें वैष्णव आदि सब धर्मों के एकीकरण का भारी उद्यम किया गया और उससे सफलता भी प्राप्त हुई इत्यादि। हमारे स्वाध्याय ने हमको और भी आगे पहुँचाया है। वह यह है कि जहाँ उनकी धार्मिक नीति यह थी वहां राजनीति भी बड़ी भयानक थी। महाभारत में जैन तथा बौद्ध साधुओं का उल्लेख तो कहीं कहीं विवश हो कर अथवा अकस्मात् कर दिया है परन्तु भगवान महावीर तथा भगवान बुद्ध का नाम तक नहीं लिखा। यही नहीं अपितु उनके प्राचीन इतिहास को भी इस

सफाई के साथ बरबाद किया है कि जिसको देखकर खेद होता है। अभिप्राय यह है कि यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं लिखा गया अपितु साम्प्रदायिक दृष्टि से लिखा गया है। ब्राह्मणों तथा उनके धर्म का महत्व बढ़ाना इस का उद्देश्य था। इसके बाद भी यही प्रणाली प्रचलित रही और भारत के प्राचीन तथ्य साहित्य को साम्प्रदायिक बादलों से आच्छादित कर दिया। इसके कुछ प्रमाण हम इसी विषय में उपस्थित करते हैं जिससे पाठक वृन्द इसका ठीक अनुमान लगा सकें। महाभारत आदि पर्व अ० १७ के आरम्भ मे ही लिखा है कि—

प्रजापतेस्तु दक्षस्य मनोर्वैवस्वतस्य च,
भरतस्य कुरो पूरोजामीढ़स्य चानघ ६ ॥ १ ॥
यादवानामिमं वंशं कौरवाणां च सर्वशः
तथैव भारतानां च पुण्यं स्वस्त्ययनं महत्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं कीर्तयिष्यामि तेऽनघ ॥

आदिपर्व अ० ७५

अर्थात् हे राजन् मैं आपके सन्मुख प्रजापति दक्ष, मनु, भरत, कुरु, पुरु, अजामीढ, यादव, कौरव तथा भारतों का चरित्र कथन करूंगा उनके यश आदिका भी कथन करूंगा। उपरोक्त श्लोकों में मनु के बाद ही भरत का नाम है, और उसके पश्चात् चन्द्रवंशियों का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि मनु के पश्चात् ही भरत हुये परन्तु सम्पूर्ण महाभारत में इनके जन्म आदि के विषय में एक भी शब्द नहीं लिखा यदि कहो कि

भरत से अभिप्राय दौष्यन्ति भरत से है तो यह ठीक नहीं क्योंकि एक तो इस श्लोक में क्रमशः कथन किया है अतः यदि दौष्यन्ति भरत से अभिप्राय होता तो कुरु के पश्चात् उस का नाम लिखना चाहिये था। दूसरी बात यह है कि 'भारतानां' आगे इस बातका स्पष्ट प्रतिवाद कर रहा है क्योंकि यदि भरत से मतलब दौष्यन्ति भरत से होता तो आगे जाकर भारतानां कहने की कुछ आवश्यकता न थी। यदि कहो कि वहां भरत व्यक्ति से अभिप्रेत है तब तो मनु आदि के आगे भी मानवानां कौरवाणां आदि शब्दों का भी व्यवहार करना चाहिये था परन्तु ऐसा न करके केवल मनु आदि शब्दों से ही उनके तथा उन के कुल का संकेत कर दिया है तथा आगे यदु आदि का नाम न लिखकर यादवानां आदि शब्दों से यदु और उनके कुल का संकेत किया है इसी प्रकार यहां भी भारतानां से भरत और उसके कुल का संकेत है। तथा च, आदि० पर्व अ० ७४ में लिखा है कि—

> अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः ।
> भरतस्यान्ववाये हि देवकल्पा महोजसः ॥ १३५ ॥

अर्थात् इनसे पृथक् पहले के भारत हम ने सुने हैं वे सब देवों के समान तेजस्वी हैं। इससे स्पष्ट हो गया कि जिन भरतों का वर्णन सौति ने किया है उससे बहुत पहले भी इस भारतवर्ष में भरतवंश था और वह देवों के समान बड़ा तेजस्वी तथा महा पराक्रमी था। परन्तु महाभारत में सौति ने कूटनीतिज्ञता के कारण इस भरत वंश का कहीं भी वर्णन नहीं किया। परन्तु फिर भी इतना तो उस ने भूल से अथवा कारण वश संकेत कर ही दिया कि इस अन्तिम भरत के पहले भी भरत हो चुका है

और वह भरत मनुके बाद उत्पन्न हुआ था तथा इसका वंश भारतोंके नामसे विख्यात था वह वंश देवोंके समान तेजस्वी तथा महापराक्रमी था। यह भरत स्वयं सूर्य थे तथा भगवान ऋषभदेव के पुत्र थे। तथा च महाभारत शान्ति पर्व, राज-धर्मके आरम्भमें ही युधिष्ठिरने भीष्म जी से यह प्रश्न किया है कि 'राजन् शब्द कैसे उत्पन्न हुआ ? तथा अन्य लोगोंपर राजाका आधिपत्य क्यों है ?' इसका उत्तर भीष्म जी ने दिया है कि प्रथमकृत-युगमे राजा थे ही नहीं उस समय सब लोग स्वतन्त्र थे। वे स्वतन्त्रता से धर्म पूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु आगे चलकर काम, क्रोध, लोभ आदिके कारण ज्ञानका लोप हो गया और धर्मका नाश होने लगा। उस समय ब्रह्माने अपनी बुद्धिसे एक लाख अध्यायका एक ग्रन्थ बनाया। उसमे धर्म अर्थ कामका वर्णन किया गया। तथा च उसमे राजनीति भी विस्तार-पूर्वक बतलाई गई। यह ग्रन्थ ब्रह्माने शंकरको सिखलाया तथा शंकरने इन्द्रको तथा इन्द्रने बृहस्पतिको सिखलाया। तथा आगे लिखा है कि ब्रह्माने वह ग्रन्थ पृथ्वीके प्रथम राजा अनंगको दिया और उससे कहा कि इस शास्त्रके अनुसार राज कार्य करो। जब उस-के पौत्र वेनने इन नियमोंका उल्लङ्घन किया और वह अपनी प्रजाको कष्ट देने लगा तब ऋषियोंने उसे मार डाला तथा उसकी जांघसे पृथु नामका राजा उत्पन्न किया। उसे ब्राह्मणोंने और देवताओंने कहा कि राग और द्वेष त्यागकर सब लोगोंके साथ समानताको व्यवहार कर तथा यह भी विश्वास दिला कि ब्राह्मणोंको दण्ड नहीं दूंगा तथा वर्णशंकर पैदा नहीं होने दूंगा। पृथुने ऐसा ही वचन दिया और वह न्यायसे प्रजा पालने लगा। यहाँ भरतका नाम अनंग भी मिलता है उनके अनेक

नाम थे उनमे एक नाम अनंग भी प्रतीत होता है। उपरोक्त ब्रह्मा तथा ऋषभदेव एक ही व्यक्ति थे यह भी इससे स्पष्ट सिद्ध होता है। यह एकलाख अध्यायका ग्रन्थ या तो काल प्रभावसे नष्ट हो गया अथवा जानकर नष्ट कर दिया गया। यदि आज यह ग्रन्थ उपलब्ध होता तो भारतीय कीर्तिका सूर्य आज मेघाछन्न न होता। वेदों मे उस मूल ग्रन्थ के मन्त्रों का नाम निविद लिखा है। देखो ऋ० १। ८६। २ तथा १। ६६। ७। महाभारतकार ने इस भारत के आदिके सम्राट अनंग की जीवनी पर भी कुछ विशेष लिखने का कष्ट नहीं किया। राज्य प्रथा प्रचलित होने का यह वर्णन जैन पुराणों के अनुकूल ही है।

नहुष राजा

दूसरी बात महाभारतकार की नहुष के विषय मे है। उसमें नहुष का वर्णन किया है तथा उसकी उद्दण्डता का भी उल्लेख किया है। उसने प्रजा के महापुरुषों को पशुवत बना कर उन पर भार भी लदवाया था, परन्तु उस का अन्तिम परिणाम क्या हुआ और किस के द्वारा हुआ यह बात उस में बिलकुल नहीं लिखी। परन्तु ऋग्वेद में हम देखते है कि भरतों ने नहुष को वश मे कर के करदाता बना दिया था

सनिरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृत: सहोभि ७।६।५

यह मन्त्र वशिष्ठ ऋषिका है और वशिष्ठ भरतोंके पुरोहित थे। अत: यह भरतोंकी ही प्रशंसा समझनी चाहिये। ईजिप्टके प्राचीन इतिहासमें जिस हेरोडोटसका जिक्र आता है यदि वह यही है तो स्पष्ट है कि नहुष को भारत छोड़कर भागना पड़ा था।

पुरूरवा

यही अवस्था पुरूरवाकी भी है। पुरूरवाका प्रजाके नेताओं (ब्राह्मणों) से झगड़ेका तो उल्लेख है परन्तु उसका जो एक ब्राह्मण द्वारा काल्पनिक पराभव दिखलाया गया है? हमारी सम्मतिमे इसमे भी यही रहस्य है। इस प्रकारके अनेक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं। यह सब कुछ होने पर भी प्राचीन भारतीय इतिहासके लिये महाभारत अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है।

रामायण और भरत

बाल्मीकि रामायणमें रामचन्द्र जी के विवाहके समय वशिष्ठ जी ने दशरथके कुलका वर्णन किया है उसमे इस प्रकार पीढ़ियां बतलाई हैं।

सबसे प्रथम (१) मनु, (२) मनुका पुत्र इक्ष्वाकु (३) कुक्षि, (४) विकुक्ष, (५) वाण, (६) अनरण्य, (७) पृथु, (८) त्रिशंकु, (९) धुन्धुमार, (१०) युवनाश्व, (११) मानधाता (१२) सुसन्धि (१३) प्रसेनजित तथा इसके दूसरा पुत्र हुआ ध्रुवसन्धि इस ध्रुवसन्धिके (१४) भरत, असित आदि वंशके महापुरुष हुये। जैन पुराणोंमे है कि प्रसेनजितके पुत्र नाभि-राय हुए और नाभिरायके ऋषभदेव और ऋषभदेवके पुत्र भरत। ऊपरके लेखसे इसकी कुछ समानता अवश्य है। पुराणोंकी वंशा-वलियोंमे रात दिनका अन्तर है। रामायणमें भी आगे इसी वंशा-वलीमें अनेक अशुद्धिया प्रतीत होती हैं। परन्तु यह हमारे प्रकरण का विषय नहीं इसलिये उनपर विचार भी नहीं किया जाता।

हमारा अभिप्राय तो इतना ही है कि सूर्यवंशमें एक प्रतापी राजा भरत हुये है उन्हींके नामसे यह देश भारतवर्ष कहलाता है। यह बात वेद, निरुक्त, ब्राह्मण, महाभारत, रामायण, जैन ग्रन्थ तथा इतिहाससे भी सिद्ध है। अवधवासी रायबहादुर ला० सीताराम जी ने अयोध्याका एक सुन्दर इतिहास लिखा है उसमें सूर्यवंशकी वंशावली दी है, उसमे १२३ राजाओंके नाम हैं जिनमें ९३ राजे महाभारतसे पूर्वके हैं तथा ३० महाभारतके पश्चात्के है। उसमे प्रसेनजित पुरुकुत्स, त्रसदस्यु, सुदास आदिका नाम दिया है। परन्तु भरतका नाम न मालूम इन्होंने क्यों छोड़ दिया। आगे चलकर भरत और मनुको एक सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। परन्तु यह मत हमको ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वेदसे लेकर रामायण आदि सभी ग्रन्थकार भरतको मनुसे पृथक सिद्ध कर रहे है। तथा भरतका मनुके पश्चात् उत्पन्न होना सभीने माना है। जिस वायु पुराण के आधार पर आपने यह लिखा है वह स्वयं अविश्वसनीय है क्योंकि वायु पुराणके इस मतका कि मनुका नाम भरत है किसीने अनुमोदन नहीं किया। अतः केवल निराधार कल्पनाके सिवा उसमे कुछ भी सार नहीं है।

क्रातवं पुराणम्

श्री नारायणचन्द्र साह बी० एल० वकील कलकत्ता हाईकोर्ट ने एक ग्रन्थ संस्कृत श्लोकोंमें लिखकर क्रातवं पुराण नामसे प्रकाशित किया था। यह ग्रन्थ वर्तमान ऐतिहासिक शैलीसे लिखा गया है इसके पृ० ५३७ में सूर्य वंशकी वंशावली दी है। उसमें—(१) मनुके पुत्र (२) इक्ष्वाकु (३) विकुक्षी (४) पुरञ्जय

(५) उससे पुत्र वृषभ बतलाया है उसमें ऋषभदेवका नाम तो आगया परन्तु भरतका उसमे भी उल्लेख नहीं है। उसमे वृषभके पुत्र निना तथा निनाका पुत्र पृथु लिखा है। आगे चलकर प्रसेनजित लिखा है और प्रसेनजितका युवनाश्व तथा उसका पुत्र मान्धाता लिखा है। उसके पश्चात् त्रसदस्यु, पुरुकुत्स आदि नाम आये है। सार यह है कि जितने ग्रन्थ है उतने ही वंशोंके क्रम है किसीका सिलसिला एक दूसरे से नहीं मिलता, ऐसी अवस्थामें ठीक पता लगाना कठिनतर है कि इस वंशका सिलसिला किस प्रकारका है। परन्तु यह वंश सूर्यवंशके नामसे प्रसिद्ध है उसके पूर्वजोंका नाम भी प्रायः सबने लिखा है। इसलिये यह बात निर्विवाद सिद्ध है।

भारतीय अनश्रुतिमें एक सौदास कल्पमाषपाद राजाका वृतान्त प्रसिद्ध है। वह मनुष्य-भक्षी हो गया था इस पर प्रजाने उसको राज्यसे च्युत कर दिया और उसके पुत्र वीर्यसिंहको राज्यगद्दी पर बिठाया। यह राजा इक्ष्वाकु वंशका था। जैन पद्मपुराणमे भी कुछ भेदसे यह कथा आई है वहां भी उसको इक्ष्वाकु वंशका ही लिखा है। यह सौदास भी सुदासको इक्ष्वाकु वंशका सिद्ध करता है। तथा रामायणमें इसको दशरथके पूर्वजोंमें लिखा भी है। अतः वैदिक सुदासका इक्ष्वाकुवंशी होना सिद्ध होता है।

श्री ऋषभदेव और इक्ष्वाकु

आकनाच्च तदिक्षूणां रससंग्रहणे नृणाम्।

इक्ष्वाकु इत्यभूद् देवो जगतामपि सम्मतः ॥

जैन आदि पु० पर्व, १६ । ६४

अर्थात् आपने सबसे प्रथम मनुष्योंको 'इक्षु' अर्थात् गन्नेका रस निकालने की विधि बताई अतः जनताने आपका (श्री ऋषभदेवका) नाम इक्ष्वाकुः रख दिया। तथा च जैन हरिवंश पुराण अ०८ श्लोक २१० मे इसीका समर्थन किया गया है। अतः यह बात सिद्ध हो गई कि श्रीऋषभदेवके जहां; प्रजापति, हिरण्यगर्भ, मनु, आदिपुरुष, अग्नि, ब्रह्मा आदि अनेक औपाधिक व सार्थक नाम थे वहां उनका एक नाम इक्ष्वाकु भी था, इसी इक्ष्वाकुसे भारतका प्रसिद्ध इक्ष्वाकु वंश चला। तथा भरत महाराजसे सूर्यवंश और भरत वंश चला, यथा।—

इक्ष्वाकुः प्रथमं प्रधानमुदगादादित्यवंशस्ततः ।
तस्मादेव च सोमवंश यस्त्वन्ये कुरूग्रादयः ॥

जैन हरिवंश पु० १३ । ३०

अर्थात् प्रथम इक्ष्वाकु वंश प्रचलित हुआ तत्पश्चात् सूर्यवंश व चन्द्रवंश आदि चले इन्हीं महाराज इक्ष्वाकुः (ऋषभदेव) का वर्णन वेदने निम्न प्रकार किया है।

यस्येक्ष्वाकु रुपव्रते रेवान् मराय्ये धते।
दिवीव पञ्च कृषयः ॥ ऋ० मं० १० । ६० । ४

अर्थात् इक्ष्वाकु राजाकी संरक्षकतामे पांचों मनुष्योंके कुल तथा आर्य व अनार्य आदि सब स्वर्गीय सुखोंका उपभोग करते

हुए अपनी अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर रहे हैं ।

किसी भी राजाकी प्रशंसामे इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता । इनकी प्रशंसामे इसी प्रकारका वर्णन अन्य स्थानों के वेद मन्त्रोंमे भी किया है । तथा च—

अथर्ववेद कां १६ । ६६ मे एक औषधिका उल्लेख है । वहां लिखा है कि—

य त्वां पूर्व वेद इक्ष्वाको यं वात्वा कुष्ट काम्यः ।

अर्थात् हे औषधे सबसे प्रथम तेरे को इक्ष्वाकुने जाना । इक्ष्वाकुसे वगुने पुनः अगस्त्यादि ऋषियोंने जाना । इस कथनसे यह सिद्ध हो गया कि इक्ष्वाकु (ऋषभदेव) जहां आदर्श राजा थे वहां अनुपम अन्वेषक तथा आविष्कारक भी थे । जैन पुराणोंमे इसका विस्तार-पूर्वक कथन है । अतः यह सिद्ध है कि भगवान् ऋषभदेव और इक्ष्वाकु एक ही व्यक्ति थे । और इन्हींके पुत्र भरत महाराज हुए जिनके नामसे आज तक यह देश भारत कहलाता है ।

भारतकी प्रथम राजधानी—

अयोध्या ।

अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता ।

मनुना मानवेन्द्रेण सा पुरी निर्मिता स्वयम् ॥

(वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड)

---

(१)—सर्व वेद भाष्यकार श्री सायणाचार्य आदि प्राचीन भाष्यकारोंने इस मन्त्रका उपरोक्त भाव ही व्यक्त किया है ।

अर्थात् लोकमें प्रसिद्ध अयोध्या नामकी नगरी है। उसको नरेन्द्र मनुने स्वयं बनाया था यही बात जैन पुराणोंमे भी आई है।

तस्यामलंकृते पुण्ये देशे कल्पांघ्रिपात्यये।
तत्पुण्यैर्मुहुराहूतः पुरुहूतः पुरीं दधात् ॥

(जैन आदिपुराण पर्व १२ श्लोक ६६)

अर्थात् कल्पवृक्षोंके नष्ट हो जानेपर जिस देशको महाराज नाभि तथा उनकी धर्मपत्नी मरुदेवीने अलंकृत किया था उन्हीं के पुण्यसे प्रेरित होकर एक पुरी रची। तथा आगे श्लोक ७६ मे लिखा है।

अयोध्या न परं नाम्ना गुणेनाप्यरिभिः सुराः ॥ ७६ ॥

अर्थात् यह अयोध्या केवल नाम की ही 'अयोध्या' नहीं थी अपितु शत्रुओंमे भी अजेया थी।

❀ भारत वंशावली ❀

(१) मनु (कुलकर नाभिराय) इनके सम्बन्धमें वैदिक प्रमाण दिये जा चुके है। (२) ऋषभदेव (इक्ष्वाकु) इनके विषयमे वैदिक प्रमाण दिये जा चुके है (३) भरत (सूर्य) इनके सम्बन्धके वैदिक प्रमाण दिये जा चुके हैं। (४) अर्ककीर्ति (वैदिक नाम देवश्रवा) (५) वेन ऋग्वेद मं० ६ सू० ८५। मं० १० तथा च १०। १४८। ५ में वेन पुत्र पृथुका वर्णन है। (६) पृथु। (७) विश्वागश्व (ऋ० १। ११६) (८) युवनाश्व (ऋ० ८। ३६। ८)। (६) श्रावश्व (ऋ० १। ४८। ३)। (१०) बृहदश्व। (११) कुवलयाश्व।

दृढाश्व। (१३) हर्यश्व। (१) ऋ० मं० २।१७।३ (१४(निकुम्भ। (१५) संहताश्व। (१६) कृशाश्व (ऋजिश्वा) ऋ० ६।१६।७ (१७) प्रसेनजित (१)। (१८) युवनाश्व (२) (१६) मान्धाता (ऋ० १।११।१३। (२०) पुरुकुत्स (ऋ० ६।२०।१०)। (२१) त्रसदस्यु (ऋ० ४।४२।६)। (२२) तृक्षि (ऋ० ८।२२।७)। पुराणोंमे इसका नाम सम्भूत है। (२३) अणु (अनरण्य) ऋ० ६।६१।१) (२४) पृषदश्व। (२५) हर्यश्व (२) ऋ० ३।३१।३। (२६) त्रयश्व (यह नाम भी पुराणों में नहीं है। (२७) विश्वमना (वसुमना) ऋ० ८। २४।२३। (२८) लक्ष्मण (पुराणों मे लक्ष्मण का नाम ही है। वेद मे ध्वन्य को लक्ष्मण का पुत्र कहा है)। (२६) ध्वन्य (तृधन्वान) ऋ० ५।३३।१०। (३०) त्रैरुण (यह त्रिवृषण का पुत्र था) ऋ० ५।२७।१।शाट्यायन तथा तण्ड्य ब्राह्मण में इसका विशेष वर्णन है। (३१) त्रिशकु (शर्यात) वा वेधस (३२) हरिश्चन्द्र (ऋ० मं० १ सू० २४ मे हरिश्चन्द्र की विस्तार पूर्वक कथा लिखी है। ऐतरेय ब्राह्मण में इसको वेधस लिखा है। (३३) रोहित। (३४) हरित और (३५) चचु (३६) विजय (कुत्स) यह रुरुक का पुत्र था संम्भव है रुरुक का ही नाम चंचु हो। ऋ० ४।१६।१०। (३७) वृक (ऋ० १०।३६।१३ (३८) वाहु सहस्रवाहु ऋ० ८।४५।२६-२७ (३६) सगर। (४०) असमञ्जस (स्वश्व) ऋ० ४।१७।१४। (४१) अंशुमत् (सूर्य) यह स्वश्व का पुत्र था। इसका एतश से युद्ध हुआ था। ऋ० ५।४०।७। (४२) दिलीप (१)। (४३) भगीरथ (भजेरथ) ऋ० मं० १० सू० ६० मं० २। (४४) श्रुतरथ (ऋ० ५।३६।६

(४५) नाभाग (ऋ० ८। ४०। ५। (४६) अम्बरीष (ऋ० १। १००। १७। (४७) सिन्धु (ऋ० १। ११२)। (४८) अयुत आयुस (आयु) ऋ० ८। १५। ५। (४६) ऋतुपर्ण। (५०) सर्वकाम (पिजवन) ऋ० ७। १८। २३। (५१ सुदास (ऋ० ३। ५३। ११ (५२) कल्माषपाद (सौदास)। (५३) अश्मक। (५४) मूलक। (५५) शतरथ। (५६) वृद्धशर्मन् (वृद्धश्रवा)। (५७) विश्वसामा (२) (५८) दिलीप (२)। (५६) रघु। (६०) अज (अजमीहल) ऋ० मं०४ सू० ४४। ६। (६१) दशरथ (दशवज्र) ऋ० मं० ८ सू० ६३। १०। (६२) श्री रामचन्द्र जी ऋ० १०। ६३। १४ (६२) (१) कुश। (६३) अतिथिग्व (ऋ० ६। ४७। २२। (६४) अश्वत्थ (इन्द्रोत) (निषिध) ऋ० ६। ४७। २४ (६५) नर (नल) ऋ० १। ३१। १५।

यहां से आगे वैदिक साहित्य से सूर्य-वंश का कुछ पता नहीं चला। सम्भव है इसके पश्चात् सूर्यवंश का सूर्य अस्त हो गया हो और चन्द्रवंशी भरतके नाम से जो भरतवंश चला उसी मे यह वंश भी जा मिला हो जैसा कि महाभारत के आदिपर्व में इसका संकेत है।

(६६) नभ, (६७) विष्णु, (६८) त्रैमधन्वन, (६६) देवानीक, (७०) आदि मगु, (७१) पारिपत्र, (७२) दल, (७३) शर, (७४) उक्थ, (७५) वज्रनाभ, (७६) शंखन, (७७) व्युशिताश्व, (७८) विश्वसमा (३), (७६) हिरण्यनाभ, (८०) पुष्य, (८१) ध्रुव सन्धि, (८२) सुदर्शन, (८३) अग्निवेश और (८४) शात्रि ऋ० मं० ५। ३४। ६ (८५) मरु, (८६) प्रथुश्रुत, (प्रथुश्रवा)

ऋ० मं० ८ । ४ । २१ । (८७) सुसंधि, (८८) अमर्ष, (८६) महाश्वत् (६०) विश्रुतवत्, (६१) वृहद्बल यह महाभारत युद्ध मे अभिमन्यु द्वारा मारा गया (६२) वृहत् त्तय, (६३) उरु त्तय, (६४) वत्स व्यूह, (६५) प्रतिव्योम, (६६) दिवाकर, (६७) सहदेव, (६८) वृहदश्व, (६६) भानुरथ, (१००) प्रतीपाश्व, (१०१) सुप्रतीप, (१०२) मरुदेव, (१०३) सुनक्षत्र, (१०४) पुष्कर, (१०५) अन्तरित्त, (१०६) सुवर्ण, (१०७) सुमित्र, (१०८) भ्राज, (१०६) वीर्यवान्, (११०) कृतंजय, (१११) व्रात, (११२) रणंजय, (११३) संजय, (११४) शाक्य, (११५) शुद्धोदन, (११६) सिद्धार्थ, (बुद्धदेव जी), (११७) राहुल, (११८) प्रसेनजित, (११६) त्तुद्रक, (१२०) कुलक, (१२१) सुरथ, (१२२) सुमित्र, । यह महानन्दा की राज्य क्रान्ति में मारा गया ।

वंशावली परिचय

हमने जो ऊपर सूर्यवंश की वंशावली दी है उसको अयोध्या की सुरत्तित वंशावली तथा वैदिक साहित्य से मिलान करके लिखने का प्रयत्न किया है पुराणों मे परस्पर विरोध होने के कारण इस विषय में बड़ी कठिनाई है। ऐतिहासिक विद्वानों को वैदिक साहित्य से अधिक सहायता प्राप्त हो सकती है। पुराणों की वंशावली तथा वैदिक साहित्य की वंशावली में भी नामों का महान अन्तर है इसलिये भी यह कार्य अधिक परिश्रम-साध्य है। यह वंशावली पूर्ण नहीं है अपितु प्रसिद्ध २ राजाओं की कुछ नामावली है। यदि जैन साहित्य में भी इस प्रकार की नामावली होती तो अवश्य

ऐतिहासिक विद्वानों को कुछ सहायता मिलती परन्तु दुःख है कि वहाँ इसका अभाव है। इन सब बाधाओं की उपस्थिति में यह कार्य अधूरा अवश्य है परन्तु इसके लिये विवशता है।

(आदि सम्राट) भरत

परम भगवद्भक्त राजर्षि भरत, भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्रों में सब से बड़े थे। इन्होंने पिता की आज्ञा से राज्य-भार स्वीकार कर, पञ्चजनी नामक विश्वरूप की कन्या के साथ विवाह किया और उसके द्वारा पांच पुत्र उत्पन्न किये। हमारा यह भारतवर्ष जो पहिले अजनाभ खंड के नाम से प्रसिद्ध था, इन्हीं महानुभाव के नाम पर भरतखण्ड अथवा भारतवर्ष कहलाया। ये सब शास्त्रों के मर्म को जानने वाले और धर्म के अनुकूल बर्ताव करने वाले थे और पिता के समान प्रजा का पालन करते थे। इन्होंने यज्ञ-क्रतुरूप भगवान का समय-समय पर अपने अधिकार के अनुसार अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, सोमयाग प्रभृति छोटे बड़े यज्ञों के द्वारा श्रद्धापूर्वक आराधन किया। वे यज्ञ से उत्पन्न होने वाले धर्म नामक अपूर्व कर्म फल को सर्वान्तर्यामी, परमदेव, यज्ञ पुरुष भगवान् वासुदेव के अन्दर भावना करते हुए अपनी कुशलता से रागादि मलों का क्षय करके यज्ञ के भोक्ता सूर्यादि देवताओं को भी भगवान् वासुदेव के नेत्र आदि अवयवों में एकत्वरूप से चिन्तन करने लगे। इस प्रकार की पूर्णता से शुद्धचित्त हुए भरत के हृदय में भगवान वासुदेव के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ने वाली भक्ति उत्पन्न

हुई। इस प्रकार भक्तियोग का आचरण करते हुए उन्हें कई हजार वर्ष बीत गये। तब ये अपने राज्यको पुत्रों में विभक्त कर घर को त्यागकर पुलस्त महर्षि के आश्रम (हरिक्षेत्र) को चले गये, जहाँ विद्याधर नामक कुण्ड में भक्तों के ऊपर दया करने वाले भगवान अब भी वहाँ रहने वाले अपने भक्तों को स्वरूप से सान्निध्य का सुख देते है और जहाँ गंडकी नदी शालग्राम-शिला के चक्रों से ऋषियों के आश्रमों को चारों ओर से पवित्र करती है। उस क्षेत्र में पुलस्त्याश्रम की पुष्प-वाटिका में रहते हुए भरत विषय वासना से मुक्त होकर और अन्तःकरण को वश में करके अनेक प्रकार के पत्र, पुष्प, तुलसीदल, जल, कन्द, मूल, फल, आदि सामग्रियों से भगवान की आराधना करने लगे। इस प्रकार निरन्तर भगवदाराधना करने से उनका हृदय भगवत्प्रेम से भर गया, जिससे अब उनकी आराधना भी ठीक तरह से नहीं हो पाती थी। वे भगवत्प्रेम में इतने मस्त हो जाते थे कि उन्हे क्या करना है, इस बात को भूल जाते थे और घटों भावावेश मे मग्न रहते।

एक दिन राजा भरत गंडकी नदी में स्नान-सन्ध्यादिक नित्य नैमित्तिक कर्म करके ओंकार का जप करते हुए तीन घण्टा तक नदी तीर पर बैठे रहे। इतने में वहाँ जल पीने की इच्छा से अपनी टोली से बिछुड़ी हुई एक हरिणी आई। उसने ज्योंही जल पीना शुरू किया कि पास ही सिंह के दहाड़ने की आवाज आई। वह मारे भय के जल पीना तो भूल गई और उसने बड़े वेग से नदी के उस पार छलांग मारी। छलांग मारते हुए उसके गर्भाशय में से बच्चा बाहर निकल पड़ा और नदी के प्रवाह में गिर पड़ा और हरिणी ने भी एक गुफा में जाकर प्राण त्याग

दिये। इस सारे दृश्य को देखकर भरत का कोमल हृदय करुणा से भर गया। उन्होंने दयापरवश हो मातृहीन बच्चे को जल में से निकाल लिया और उसे अनाथ समझकर अपने आश्रम में ले आये। धीरे २ उस बच्चे मे उनकी ममत्वबुद्धि होगई और वे बड़े चावसे उसे खिलाते पिलाते, हिंस्र जन्तुओं से उसकी रक्षा करते और प्रेम से उसे पुचकारते और उसके शरीर को खुजलाते और सहलाते। इस प्रकार धीरे धीरे उनकी उस बच्चे में आसक्ति बद्धमूल हो गई और उसके पीछे उनका सारा धर्म-कर्म छूट गया। रात दिन उसके लालन-पालन में लगे रहते। उनकी आसक्ति कर्तव्य-बुद्धि के रूप मे आकर उन्हें धोखा देने लगी। वे सोचते कि कालचक्र ने ही इस बच्चे को अपने माता-पिता से छुड़ाकर मेरी शरण में पहुँचाया है, अतः इस शरणागत की सब प्रकार से रक्षा करना मेरा धर्म है। एक दिन वह मृगशावक खेलता-खेलता आश्रम से बहुत दूर निकल गया और लौटा नहीं। अब तो राजर्षि उसके वियोग में बहुत व्याकुल हो गये और उसे याद कर-करके रोने लगे। उन्होंने सोचा कि उसे किसी हिंसक पशु ने मार तो नहीं डाला और इस अनिष्ट-शंका ने उनके हृदय को व्यथित कर डाला। इसप्रकार उनके प्रारब्धने ही मानो हरिण के बच्चे का रूप धारण कर उन्हे योग मार्ग से और भगवदा-राधना कर्म से भ्रष्ट कर दिया, अन्यथा जिस राजर्षि ने अपने पुत्रों—अपने हृदय के टुकड़ों और अपनी पाणिगृहीता पत्नी का परित्याग कर दिया उसकी एक पोसे हुए हिरण के बच्चे में इतनी आसक्ति कैसे होती? अस्तु, एक दिन राजा उसी

मृगशावक की चिंता में बैठे थे कि अकस्मात् उनका मृत्युकाल उपस्थित हो गया और उन्होंने उसी मृगछौने का ध्यान करते हुए प्राण त्याग दिये। 'अन्त-मतिः सा गतिः।' इस नियम के अनुसार उन्हें अगले जन्म में हरिण का शरीर मिला, परन्तु भगवदाराधन के प्रभाव से उनकी पूर्व जन्म की स्मृति नष्ट नहीं हुई। उन्होंने सोचा, 'अरे मैंने यह क्या किया? एक हरिण के मोह में दुर्लभ मनुष्य-जन्म को स्वयं ही खो दिया।' अब तो वे पूर्णतया सावधान हो गये। वे अपने परिवार को छोडकर उसी पुलस्त्याश्रम मे चले आये और वहाँ सब प्रकार का सग त्यागकर मुनि की भांति अकेले ही विचरते रहे और मृत्यु की बाट देखते रहे। जब मरण काल निकट आया तो उन्होंने गंडकी नदी मे स्नान कर उस मृग शरीर को त्याग-दिया उन्हे तीसरे जन्म में ब्राह्मणयोनि प्राप्त हुई और उसी शरीर से वे मुक्त हो गये।

(श्रीमद्भागवत के आधार पर)—चि० गोस्वामी
(कल्याण संत अंक प्रथम खंड वर्ष १२ सं० १ पृष्ठ २७६।

वाराह पुराण

स्वायम्भुव मनु से सृष्टि का प्रारम्भ भया रुद्र जी कहते है हे मुनीश्वरो! सो आप श्रवण करें। स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत उत्तानपाद ये दो पुत्र उत्पन्न भये प्रियव्रत के दश पुत्र उत्पन्न भये जिनका नाम अग्नीन्ध्र, नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय कुरु, भद्राश्व, केतुमाल ये दश पुत्र हैं, इन्हीं के नाम से पृथ्वी के जुदे जुदे खंड कहाये और ये सब

आयुर्बल व संततियों से पूर्ण भये, जिन्हों के वर्णन में बहुत काल की सावधानी चाहिये । हे ऋषीश्वरो ! अब इन राजाओं में दूसरा राजा जिसका नाम नाभि है उसकी संतान का कथन करते है सो आप श्रवण करें राजा नाभि ने मरुदेवी नाम रानी में ऋषभ नाम का पुत्र उत्पन्न किया तिस ऋषभ के सौ पुत्र उत्पन्न भये जिन्होंमें सबों में ज्येष्ठ व श्रेष्ठ भरत नामा है जिसके नाम से इस पृथ्वी के इस भाग का भरतखंड नाम विख्यात हुआ सो योगेश्वर भरत राजाधिराज संज्ञा को प्राप्त भया ।

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हिन्दी वाराह पुराण अध्याय ७३ पृष्ठ संख्या १८१

नाभेरुर्मदेव्यां पुत्रमजनयनृषभ नामानं तस्य भरतो ।

पुत्रञ्च तावदग्रजः तस्य भरतस्य पिता ऋषभः—

हेमाद्रे र्दक्षिणं वर्षं महद् भारतं नाम शशास ॥

वाराह पुराण अध्याय ७४ पृ० ४६

अर्थ—नाभि के मरुदेवी के गर्भ से ऋषभ नाम का पुत्र हुआ तथा ऋषभदेव के भरत हुए, वे भरत अपने सब भाइयों में बड़े थे । भरत के पिता ऋषभ ने भरत को हिमाद्रि के दक्षिण का प्रदेश दिया था और भरत के द्वारा वह प्रदेश पालित होनेसे उसका नाम भारत प्रसिद्ध है।

वायु पुराण

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मेरुदेव्यां महाद्युतिः ।

ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥ ५० ॥

ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।

सोभिषिच्यापि भरतं पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः ॥ ५१ ॥

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।

तस्माद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥ ५२ ॥

वायु महापुराण पर्व अ० ३३ पृ० ५१

अर्थ—नाभि के मेरुदेवी नाम की भार्या से महान् कान्तिधारी राजाओं में श्रेष्ठ और क्षत्रियों में सबसे पहला ऋषभ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।

उन ऋषभदेव से भरत नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ जो कि अपने सौ भाइयों मे सबसे बड़ा था।

ऋषभदेव ने भरत को राज्य देकर दीक्षा धारण की भरत ने हिम नामक दक्षिण प्रदेश को सम्हाला था इसलिये इस प्रदेश का नाम 'भारत' प्रसिद्ध है।

लिंग पुराण

नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि हिमांकेऽस्मिन्निबोधत ।

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महामतिः ॥ १९ ॥

ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम् ।

ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥ २० ॥

सोऽभिषिच्याऽपि ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः ।

ज्ञानवैराग्यमाश्रित्य जितेन्द्रियमहोरगान् ॥ २१

नग्नो जटी निराहारो चीरीध्वांतगतो हि सः ।

सर्वात्मनात्मनि स्थाप्य परमात्मानमीश्वरम् ॥ २२ ॥

निराशस्त्यक्तसन्देह: शैवमाप परं पदम् ।

हिमाद्रे र्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ॥ २३ ॥

तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः

लिंगपुराण अध्याय ४७ पृ० ६८

अर्थ—अब मैं नाभिराज के स्वानदान का वर्णन करूंगा नाभि के मरुदेवी के गर्भ से महान् बुद्धि का धारक, राजाओं में श्रेष्ठ, समस्त क्षत्रियों द्वारा पूज्य ऋषभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उन ऋषभदेव के सौ पुत्रों में सबसे बड़े का नाम भरत था ऋषभदेव ने भरत को राज्य सोंप दिया।

तथा ज्ञान वा वैराग्य का अवलंबन ले कर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने लगे।

अपनी आत्मा मे ही आत्मा के द्वारा परमात्मा की स्थापना करके दिगम्बर भेष में आहार न करते हुए रहने लगे।

ऐसे समय मे उनके केश बढ़ गये थे। और उनके मन से वस्त्र धारण करनेका अंधकार (मोह) समाप्त हो गया था। अतः व नग्न रहते थे।

आशाओं से मुक्त, सन्देहसे रहित उनकी साधना उन्हें मोक्ष जाने मे सहायक हुई।

उन्होंने भरतके लिये हिमाद्रि का दक्षिण प्रदेश शासन करने को सौपा था अतः उस देश का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध है।

स्कन्द पुराण

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद्भरतोऽभवत् ।

तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥५७॥

स्कन्दपुराण माहेश्वरखण्डके कौमारखण्ड अ० ३७

अर्थ—नाभिके पुत्र ऋषभदेव और ऋषभदेवके पुत्र भरत हुए। उन्हीं भरत के नामसे इस प्रदेश का नाम भारत प्रसिद्ध है।

जैन पुराण और भरत

प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भरावन्धुता तदा।
तमाह भरतं भावि समस्तभरताधिपं ॥१५८॥
तन्नाम्ना भारतं वर्षमिति ह्यासीज्जनास्पदं।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदं ॥१५९॥

आदि पु० पर्व, १५

उस समय (भरत के जन्मोत्सव के समय) बड़े प्रेम में डूबे हुए भाई बन्धु लोगों ने प्रमोदभरतः अर्थात् बड़े सन्तोष से समस्त क्षेत्र के अधिपति होने वाले उस पुत्र को भरत नाम दिया। उसी भरत के नाम से हिमालय से समुद्र तक चक्रवर्तियोंके इस क्षेत्र का नाम 'भारतवर्ष' हुआ।

भरत और भारत

प्रिय पाठक गण! जिस देश के साथ ४० करोड़ मनुष्यों का भाग्य नत्थी है उस देश का नाम किस महापुरुष के नाम से प्रसिद्ध हुआ यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। उसी विषय को पाठकों के सन्मुख प्रमाण सहित पेश किया जा रहा है। आशा है, विद्वत्समाज इस पर सत्यासत्य निर्णयात्मक दृष्टि से विचार करेगा क्योंकि उसके स्पष्ट होने से इतिहास की अनेक गुत्थियां सुलझेंगी और हमारे देश का प्राचीन गौरव बढ़ेगा

जाति को मान प्राप्त होगा। हमारी यह दृढ़ धारणा है कि इस देश का नाम भारतवर्ष रखने से ही देश और जाति का उत्थान होगा।

ऋषभदेव

महाभागवत राजर्षि प्रियव्रतके अग्नींध्र आदि नौ पुत्र हुए। अग्नींध्र के भी नाभि आदि नौ पुत्र हुए। नाभि का विवाह मेरु की पुत्री मरुदेवी के साथ हुआ उन्हों ने संतान-हीन होने के कारण पुत्र कामना से अपनी पत्नी के साथ एकाग्रचित्त होकर भगवान यज्ञ का पूजन किया। उनकी आराधना से प्रसन्न होकर भगवान उनके सामने प्रकट हुए भगवान का दर्शन पाकर ऋत्विज सदस्य और यजमान (राजा नाभि) सभी बड़े प्रसन्न हुए और उनकी वंदना कर स्तुति करने लगे। ऋत्विज बोले भगवन्! यह राजर्षि पुत्र की कामना से यज्ञ कर रहा है और आप जैसा पुत्र चाहता है। अतः सबकी कामना पूर्ण करने वाले आप को इसकी भी कामना पूर्ण करनी चाहिये।" श्री भगवान बोले—'हे ऋषियो! संसार में मेरे समान दूसरा कोई भी नहीं हो सकता, मेरे समान तो मै ही हूँ। तथापि ब्राह्मणों का वचन मिथ्या नहीं होना चाहिये, अतः आप लोगों की बात रखने के लिये मैं ही मरुदेवी के उदर में अंश रूप मे अवतीर्ण होऊंगा। यह कह कर भगवान सब के देखते देखते अंतर्धान होगये। इस प्रकार भक्त-वत्सल भगवान दिगम्बर, ज्ञानी, तपस्वी और नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के धर्म को स्वयं आचरण करके प्रसिद्ध करने के लिये ऋषभदेव के रूप में अवतीर्ण हुए।

बालक ऋषभ के चरणों में वज्र, अंकुश आदि के चिन्ह प्रकट होते ही दिखाई देने लगे साथ ही उनके अंदर सत्यता शांति; वैराग्य, ऐश्वर्य आदि गुणों का विकास होने लगा। डील डौल, कांति तेज, बल, प्रभाव और सुन्दरता आदि में भी ये अप्रतिम थे। अतएव पिता ने इनका नाम ऋषभ (श्रेष्ठ) रक्खा। इनके ऐश्वर्य को देखकर इन्द्र को बड़ी ईर्ष्या हुई और उन्होंने इन के राज्य में वर्षा बन्द कर दी। इन्द्र की इस अनुचित चेष्टाको देखकर भगवान ऋषभदेव मुस्कराये और अपनी योगमाया के प्रभाव से उन्होंने इन्द्र के प्रयत्न को निष्फल कर दिया और राज्य मे खूब वृष्टि हुई। जब ऋषभदेव कुछ बड़े हुए तब नाभि ने मंत्रियों और प्रजाजनों आदि की अनुमति से धर्म की मर्यादा की रक्षा के निमित्त अपने पुत्र को राज्य सिंहासन पर बिठा कर स्वय अपनी पतिव्रता पत्नी के साथ तप करने के लिये बद-रिकाश्रमकी ओर प्रस्थान किया और एकाग्र मन से समाधि योग के द्वारा नर नारायण रूप भगवान वासुदेव की आराधना कर कुछ ही समय बाद देव दुर्लभ गति को प्राप्त किया।

इधर भगवान ऋषभदेव ने गृहस्थों को धर्माचरण की शिक्षा देने के निमित्त स्वयं गुरु गृह मे निवास करके वेदाध्ययन किया। तदनंतर गुरुओं की आज्ञा से गृहस्थाश्रमको स्वीकार कर इन्द्रके द्वारा दी हुई जयन्ती नाम की कन्या के साथ विवाह किया और उसके द्वारा क्रमशः सौ पुत्र उत्पन्न किये जो गुण आदि में इन्हीं के समान थे। इनमें सबसे बड़ा भरत श्रेष्ठ गुणों से युक्त एवं महायोगी था, उसी के नाम से यह देश 'भारतवर्ष' कहलाया शेष निन्यानवे में कवि हरि, अंतरिक्ष प्रबुद्ध, पिप्पलायन, अविर्होत्र, द्रुमिल, चमास करभा जन ये नौ पुत्र भागवत धर्मका उपदेश

करने वाले और नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। ये जन्म से ही भगवान की एकान्त भक्ति में लग गये और घर छोड़ कर परम हंस वृत्ति से रहने लगे। बाकी पुत्र भी पिता के आज्ञाकारी, नग्न और शुद्ध आचरण करने वाले थे भगवान ऋषभदेव तो साक्षात् ईश्वर स्वतंत्र और केवल आनन्दानुभवरूप होने के कारण समस्त प्राणियों में समान बुद्धि रखते थे, जिस बुद्धि के उत्पन्न होने से सारे अनर्थों का समूल नाश हो जाता है। वे स्वभाव से ही राग, लोभ आदि दोषों से रहित करने में तत्पर और सब के ऊपर दया करने वाले थे। फिर भी उन्हों ने असमर्थ पुरुषों की भांति कर्म करते हुए काल वश उच्छिन्न हुए धर्म का स्वयं आचरण करके धर्माचरण न जानने वाले लोगों को शिक्षा दी तथा धर्म अर्थ, कीर्ति, पुत्रादि संतति और विषय भोग से प्राप्त होने वाले आनंद का संग्रह करके समस्त संसार को यथेष्ट आचरण से हटा कर शास्त्रोक्त आचरण में लगाया। क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष अच्छा बुरा जैसा भी आचरण करते हैं दूसरे लोग भी वैसा ही करते हैं। यद्यपि वे स्वयं धर्म के रहस्य को जानते थे तथापि उन्हों ने लोक संग्रह के लिये ब्राह्मणों को पूछ कर उनके कहे हुए मार्ग से ही साम दाम आदि उपायों के द्वारा सारे जगत को शिक्षा दी और शास्त्रोक्त विधि के अनुसार सौ बार यज्ञेश्वर भगवान का यज्ञों से पूजन किया। उन के राज्य में ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक एक भी पुरुष ऐसा न था जो भगवान की प्रसन्नता के अतिरिक्त किसी और वस्तु की कामना रखता हो। उन्होंने एक बार भूमि पर विचरते हुए ब्रह्मावर्त्त क्षेत्र में जाकर वहां अतिश्रेष्ठ ब्रह्मर्षियों की सभा में समस्त प्रजा जनों के सामने अपने पुत्रों को मोक्ष धर्म का बड़ा सुन्दर उपदेश

दिया और यह भी कहा कि तुम लोग अब अपने बड़े भाई भरत को निष्कपट बुद्धि से सेवा करो उसी से मेरी सेवा होगी और प्रजा का पालन होगा । तदनन्तर वे अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य-भार सौंपकर सकल वस्तुओं का परित्याग कर के केशों को बिखेर कर तथा पागलों की भांति दिगम्बर होकर ब्रह्मावर्त के बाहर चले गये। अवधूत का वेश धारण कर लोगों में जड़, अंध बधिर गूंगे अथवा पिशाच ग्रस्त मनुष्य की भांति यत्र-तत्र विचरने लगे और लोगोंके प्रश्न करनेपर भी कुछ नहीं बोलते थे। मार्ग मे अधम पुरुष उन्हें ललकार कर, ताड़ना देकर, उनके शरीर पर पेशाब कर, विष्ठा और धूल डालकर, अधोवायु छोड़कर थूककर तथा दुर्वचन कहकर अनेक प्रकार से सताते परन्तु जिस प्रकार जंगली हाथी मक्खियों के आक्रमण को कुछ भी नहीं गिनता उसी प्रकार वे भी इन सब कष्टों से तनिक भी विचलित नहीं होते थे और सदा आत्म-स्थित रहते थे। कुछ दिन बाद जब इन्हें सब लोक भगवद्ध्यान-रूप योग साधन के प्रत्यक्षविरोधी दीखने लगे और उनका प्रतीकार करना भी उन्हें गर्हित प्रतीत होने लगा तब इन्होंने अजगर व्रत (एक ही स्थान में रहकर प्रारब्ध कर्म भोगना) धारण किया। ये लेटे हुए ही प्रारब्धवश प्राप्त हुए अन्नादि का भोजन करते और पड़े-पड़े ही मल मूत्र का त्याग करते जिससे उनका शरीर मल-मूत्र से सन जाता था। परन्तु उनके मल मूत्र से ऐसी सुगन्ध निकलती थी कि उससे दस योजन पर्यंत का देश सुगन्धित हो उठता था इसी प्रकार कुछ दिन तक इन्होंने गौ मृग और कौओं की वृत्ति धारण कर गौ, मृग और कौओं की

भांति चलते हुए, खड़े होकर, बैठकर अथवा लेटकर खाना पीना, मल मूत्र त्याग आदि व्यवहार किये। इस तरह नाना प्रकार के योगो का आचरण करते हुए भगवान ऋषभदेव को मार्ग में अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हुई पर इन्होंने उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। इस प्रकार लिग शरीर के अभिमान से रहित भगवान् ऋषभदेव का शरीर योग माया की वासना रूप संस्कारों के कारण अभिमान के आभास (जैसे एक बार घुमाया हुआ कुम्हार का चाक संस्कारवश बहुत देर तक घूमता रहता है उसी प्रकार अभिमान रहित हुए पुरुष का शरीर पहिले अभिमान के संस्कार वश कितने ही दिनो तक विद्यमान रहता है। इसी अभिमान के संस्कार को अभिमान का आभास कहते हैं) से इस पृथ्वी पर विचरने लगे। वे दक्षिण प्रान्त के कर्णाटक देश मे जाकर कुटक पर्वत के बगीचे में मुख में पत्थर का ग्रास लेकर चिरकाल तक उन्मत्त की भांति केश खोले नग्न होकर घूमते रहे।

एक दिन वायुके वेग से बांसों के परस्पर रगड़ने से उस उपवन में प्रचण्ड दावानल उत्पन्न हुआ, जिसने ऋषभदेवजी के शरीर सहित सारे वन को बात की बात में भस्म कर दिया इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने संसार को परमहंसों के आचरण का श्रेष्ठ आदर्श दिखाकर अपनी लीला संवरण की

(श्री भद्भागवत के आधार पर) (१)—

भरत और भारत

राजा प्रियव्रत ने अग्नीन्ध्र को जम्बूदीप का राज्य दिया था। उनके नौ पुत्र हुए, जो पिता के समान शक्तिशाली थे।

[(१)—कल्याण के संत अङ्क वर्ष १२ संख्या १ पृष्ठ २७४ से]

उनमें सबसे बड़े का नाम नाभि था, उससे छोटा किंपुरुष था। तीसरे का नाम हरि चौथे का इलावृत, पाँचवे का रम्य, छठे का हिरण्यएक, सातवेंका कुरु, आठवे का भद्राश्व और नवें का केतुमाल था इन पुत्रों के नाम पर जम्बूद्वीप के नौ खण्ड हुए हिमवर्ष को छोड़कर शेष जो किम्वर्ष आदि वर्षा है, उनमें सुख की अधिकता है और विना यत्न किये स्वभाव से ही यहाँ सब कामनाओं की सिद्धि होती है। उनमे किसी प्रकार के विपर्यय (असुख, अकाल, मृत्यु आदि) तथा जरा-मृत्यु का कोई भय नहीं है। और न वहां धर्म अधर्म अथवा उत्तम, मध्यम, अधम आदि का ही कोई भेद है। उन आठ वर्षों मे न चार युगों की व्यवस्था है, न छह ऋतुओं की। वहाँ किसी विशेष ऋतु के कोई चिन्ह नहीं दीख पड़ते। अग्नीन्ध्रकुमार नाभि के पुत्र ऋषभ और ऋषभ के भरत हुए जो अपने भाइयों मे सबसे बड़े थे। ऋषभ अपने पुत्र को राज्य दे महाप्रव्रज्या (सन्यास) ग्रहण करके तपस्या करने लगे उन्होंने हिम नामक वर्ष को, जो सबसे दक्षिण है, अपने पुत्र भरत को दिया था इसलिये महात्मा भरत के नाम पर इसका नाम भारतवर्ष हो गया।

['कल्याण' का 'मार्कण्डेय-ब्रह्म पुराणांक' वर्ष २१, संख्या १ पृष्ठ १५१]

अग्नीध्रसूनोर्नाभिस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः।

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः ॥ ३९ ॥

सोभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।

तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंश्रयः ॥ ४० ॥

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥४१॥

(अर्थ पूर्वोक्त है) —मार्कण्डेय पुराण अध्याय ५०

श्रीमद्भागवत

अथ ह भगवानृषभदेवः स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः,
प्रदर्शितगुरुकुलवासो लब्धवरैर्गुरुभिरनुज्ञातो गृहमेधिनां ।
धर्माननुशिक्षमाणो जयन्त्यामिंद्रदत्तायामुभयलक्षण-
कर्म समाम्नायाम्नातमभियुञ्जन्नात्मजानामात्मसमानानां
शतं जनयामास ॥ ८ ॥

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुणः ।
आसीद् येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥ ९ ॥

अब भगवान ऋषभदेव ने अपने खंड को कर्म क्षेत्र मान कर गुरुकुल में वास करके गुरुजी से आज्ञा तथा वर लेकर गृहस्थों के धर्म की शिक्षा करते हुए इन्द्र से प्राप्त जयन्ती नाम की स्त्री से अपने ही समान सौ पुत्रों को उत्पन्न किया और श्रुति स्मृति के अनुसार दो प्रकार के कर्मों को कहकर वेद की शिक्षा दी ।

उनके पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र भरतजी श्रेष्ठ गुण वाले और परम योगी हुए, जिनके नाम से इस देश का नाम 'भारतवर्ष' हुआ।

श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५ अध्याय ४ ।

मिति हेतुसंभवे साध्यसंभव इत्याह—

न हि स्वभावप्रतिबन्धे सत्येकस्य निवृत्तावपरस्य नियमेन निवृत्तिः ।

नहीति । स्वभावेन प्रतिबन्धो यस्तस्मिन्सत्येकस्य साध्यस्य निवृत्त्या नापरस्य साधनस्य नियमेन युक्ता नियमवती निवृत्तिः ।

स च द्विप्रकारः । सर्वस्य तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणश्चेत्युक्तम् ।

स च स्वभावप्रतिबन्धो द्विप्रकारः सर्वस्य[1] । तादात्म्यं लक्षणं निमित्तं यस्य स तथोक्तः । तदुत्पत्तिलक्षणं निमित्तं यस्य स तथोक्तः । यो यत्र प्रतिबद्धस्तस्य स प्रतिबन्धविषयोऽर्थः स्वभावः कारणं वा स्यात् । अन्यस्मिन्नप्रतिबद्धत्वानुपपत्तेः । तस्माद्द्विप्रकारः स इत्युक्तम् । स च साध्येऽर्थे लिङ्गस्येत्यत्रान्तरेऽभिहितः ।

तेन हि निवृत्तिं कथयता प्रतिबन्धो दर्शनीयः ।

हिर्यस्मादर्थे । यस्मात्स्वभावप्रतिबन्धे निवर्त्यनिवर्तकभावस्तेन साध्यस्य निवृत्तौ साधनस्य निवृत्तिं कथयता प्रतिबन्धो निवर्त्यनिवर्तकयोर्दर्शनीयः ।

तस्मान्निवृत्तिवचनमाक्षिप्तप्रतिबन्धोपदर्शनमेव भवति ।

यदि हि साधनं साध्ये प्रतिबद्धं भवदेवं साध्यनिवृत्तौ तन्नियमेन निवर्तेत । यतश्च तस्य प्रतिबन्धो दर्शनीयस्तस्मात्साध्यनिवृत्तौ यत्साधननिवृत्तिवचनं तेनाक्षिप्तं[3] प्रतिबन्धोपदर्श-

---

१ ख० सर्वस्य प्रतिबद्धस्य ।

२ 'तत्' इति पदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते ।

३ ख० तेनाक्षिप्तं प्रतिबन्धोपदर्शनम् तदेवान्वयवचनम् ।

नम् । यच्च तदाक्षिप्तप्रतिबन्धोपदर्शनं तदेवान्वयवचनम् । प्रतिबन्धश्चेदवश्यं दर्शयितव्यः । न वक्तव्यस्तर्ह्यन्वयः ।

यच्च प्रतिबन्धोपदर्शनं तदेवान्वयवचनमित्येकेनापि वाक्येनान्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा प्रयुक्तेन सपक्षासपक्षयोर्लिङ्गस्य सदसत्त्वख्यापनं कृतं भवतीति नावश्यवाक्यद्वयप्रयोगः ।

यस्माद्दृष्टान्ते प्रमाणेन प्रतिबन्धो दर्श्यमान एवान्वयो नापरः कश्चित्तस्मान्निवर्त्यनिवर्तकप्रतिबन्धो[१] ज्ञातव्यः । तथा चान्वय एव ज्ञातो भवति । इतिशब्दो हेतौ । यस्मादन्वये[२] व्यतिरेकगतिर्व्यतिरेके चान्वयगतिस्तस्मादेकेनापि सपक्षे चासपक्षे च सत्त्वासत्त्वयोः ख्यापनं कृतम् । अन्वयो मुखमुपायोऽभिधेयत्वाद्यस्य तदन्वयमुखं वाक्यम् । एवं व्यतिरेको मुखं यस्येति । इति[३] हेतौ । यस्मादेकेनापि वाक्येन द्वयगतिस्तस्मादेकस्मिन्साधनवाक्ये द्वयोरन्वयव्यतिरेकवाक्ययोरवश्यमेव प्रयोगो न कर्तव्यः । अर्थगत्यर्थो हि शब्दप्रयोगः । अर्थश्चेदवगतः किं शब्दप्रयोगेण । एकमेव त्वन्वयवाक्यं[४] व्यतिरेकवाक्यं वा प्रयोक्तव्यम् ।

अनुपलब्धावपि यत्सदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदुपलभ्यत एवेत्युक्तेऽनुपलभ्यमानं तादृशमसदिति प्रतीतेरन्वयसिद्धिः ।

अनुपलब्धावपि व्यतिरेकेणोक्तेनान्वयगतिः[५] । यत्सदुप-

---

१ निवर्त्यनिवर्तक०, ख० निवर्त्यनिवर्तकयो० ।

२ अन्वये, ख० अन्वयेऽपि ।   ३ क० इतिकरणो हेतौ ।

४ "तु" इति पदं ख० पुस्तके नास्त्येव ।

५ उक्तेन, ख० युक्तेन ।

लब्धिलक्षणप्राप्तमिति । साध्यस्यासद्व्यवहारयोग्यत्वस्य निवृत्तिदृश्यसत्त्वरूपमाह । तदुपलभ्यत एवेति । अनुपलम्भस्य निवृत्तिमुपलम्भरूपामाह । तदनेन साध्यनिवृत्तिः साधननिवृत्त्या व्याप्ता दर्शिता । यदि च साधनसंभवेऽपि साध्यनिवृत्तिर्भवेन्न साधनाभावेन व्याप्ता भवेत् । अतो व्याप्तिं[1] प्रतिपद्यमानेन साधनसंभवः साध्यसंभवेन व्याप्तः प्रतिपत्तव्यः । अत एवाहानुपलभ्यमानतादृशमिति । दृश्यमसदिति प्रतीतेः[2] संप्रत्ययादन्वयसिद्धिरिति ।

द्वयोरप्यनयोः प्रयोगेऽवश्यं पक्षनिर्देशः ।

यतश्च साधनं साध्यधर्मप्रतिबद्धं तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां प्रतिपत्तव्यं द्वयोरपि प्रयोगयोस्[3]तस्मात्पक्षोऽवश्यमेव न निर्देश्यः ।

यत्साधनं साध्यनियतं प्रतीतं तत एव साध्यधर्मिणि दृष्ट्वा साध्यप्रतीतिरतो न किंचित्साध्यनिर्देशेनत्येवमेवार्थमनुपलब्धिप्रयोगे दर्शयति ।

यस्मात्साधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते सोऽसद्व्यवहारविषयः ।

साधर्म्यवति प्रयोगेऽपि सामर्थ्यादेव नेह घट इति भवति । किं पुनस्तत्सामर्थ्यमित्याह । यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तमिति[4] । अनुपलम्भानुवादः सोऽसद्व्यवहारविषय इत्यसद्व्यवहारयोग्यत्वविधिः । तथा च सति दृश्यानुपलम्भोऽसद्व्यवहारयोग्यत्वेन

१ क० व्याप्तिप्रतिपद्यमानेन ।

२ पदमिदं क० पुस्तके न विद्यते ।

३ ख० पुस्तकस्य पाठ· 'प्रयोगयोः' इत्यस्मादारभ्य 'घट इति भवति' पर्यन्त न सम्यक्पठ्यते ।

४ यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तमिति, ख० यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यत इति ।

व्याप्तो दर्शितः ।

नोपलभ्यते चात्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इत्युक्ते सामर्थ्यादेव नेह घट इति भवति ।

नोपलभ्यत इत्यादिना साध्यधर्मिणि सत्त्वं लिङ्गस्य दर्शितम् । यदि च साध्यधर्मस्तत्र साध्यधर्मिणि न भवेत्साधनधर्मोऽपि न भवेत् । साध्यनियतत्वात्तस्य साधनधर्मस्येति सामर्थ्यम् ।

तथा वैधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि यः सद्व्यवहारविषय उपलब्धिलक्षणप्राप्तः स उपलभ्यत एव न तथात्र तादृशो घट उपलभ्यत इत्युक्ते सामर्थ्यादेव नेह सद्व्यवहारविषय इति भवति ।

यथा साधर्म्यवत्प्रयोगे तथा वैधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि सामर्थ्यादेव नेह सद्व्यवहारविषयोऽस्ति घट इति भवति । सामर्थ्यं दर्शयितुमाह । यः सद्व्यवहारविषय इति । विद्यमानः । उपलब्धिलक्षणप्राप्त इति । दृश्यः । इत्येषा साध्यनिवृत्तिरुपलभ्यत एवेति साधननिवृत्तिरित्यनेन न साध्यनिवृत्तिः साधननिवृत्त्या व्याप्ता दर्शिता । न तथेति । यथान्यो दृश्य उपलभ्यते न तथात्र प्रदेशे तादृश इति दृश्यो घट उपलभ्यत इत्यनेन साध्यनिवृत्तेर्व्यापिका साधननिवृत्तिरसती साध्यधर्मिणि दर्शिता ।

कीदृशः पुनः पक्ष इति निर्देश्यः ।

यदि च न साध्यधर्मः साध्यधर्मिणि भवेत्साधनधर्मोऽपि न भवेदस्ति च साधनधर्म इति सामर्थ्यात्ततः सामर्थ्यान्नास्त्यत्र घट इति प्रतीतेर्न पक्षनिर्देशः । एवं कार्यस्वभावहेत्वोरपि सामर्थ्यात्संप्रत्यय इति न पक्षनिर्देशः ।

कीदृशः पुनरर्थः पक्ष इत्यनेन शब्देन निर्देश्यो वक्तव्य इत्याह ।

स्वरूपेणैव स्वयमिष्टो[1]ऽनिराकृतः पक्ष इति ।

स्वरूपेणैवेति । साध्यत्वेनैव[2] स्वयमिति वादिना इष्ट इति नोक्त एवापि त्विष्टोऽपीत्यर्थः । एवंभूतः सन्प्रत्यक्षादिभिरनिराकृतो योऽर्थः[3] स पक्ष इत्युच्यते । अथ यदि न पक्षो निर्देश्यः कथमनिर्देश्यस्य लक्षणमुक्तम् । न साधनवाक्यावयवत्वादस्य लक्षणमुक्तमपि त्वसाध्यं[4] केचित्साध्यं साध्यं चासाध्यं प्रतिपन्नाः । तत्साध्यासाध्यविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पक्षलक्षणमुक्तम् ।

स्वरूपेणेति साध्यत्वेनेष्टः । स्वरूपेणैवेति साध्यत्वेनेष्टो न साधनत्वेनापि ।

स्वरूपेणेष्ट इत्यस्य विवरणम् । साध्यत्वेनेष्ट इति पक्षस्य साध्यत्वान्नापरमस्तिरूपम् । अतः स्वरूपं साध्यत्वमिति । एवशब्दं विवरीतुमाह । स्वरूपेणैवेति ।

ननु चैवशब्दः केवल एव प्रत्यवमर्ष्टव्यस्तत्किमर्थं[5] स्वरूपशब्देन सह प्रत्यवमृष्टः । उच्यते । एवशब्दो निपातो द्योतकः । पदान्तराभिहितस्यार्थस्य विशेषं द्योतयतीति पदान्तरेण विशेष्यवाचिना सह निर्दिष्टः । न साधनत्वेनापीति । यत्साधन-

---

१ मुद्रितपुस्तकस्य 'इष्टो निराकृतः' इति पाठोऽशुद्धः प्रतीयते ।

२ क० साध्यत्वेनैवास्वयमिति ।

३ अर्थः, ख० अर्थो यः ।

४ असाध्यं केचित्साध्य साध्यं चासाध्यं प्रतिपन्नाः, ख० असाध्य किंचित्साध्यं साध्य चासाध्यं कचित्प्रतिपन्नाः ।

५ तत्किमर्थम्, ख० तत्कथम् ।

त्वेन निर्दिष्टं तत्साधनत्वेनेष्टमसिद्धत्वाच्च साध्यत्वेनापीष्टं तस्य निवृत्त्यर्थ एवशब्दः तदुदाहरति ।

यथा शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं हेतुः ।

यथेति । शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं हेतुः ।

शब्देऽसिद्धत्वात्साध्यं न पुनस्तदिह साध्यत्वेनैवेष्टं साधनत्वेनाप्यभिधानात् ।

शब्देऽसिद्धत्वात्साध्यमित्यनेन साध्यत्वेनेष्टिमाह । तदिति । चाक्षुषत्वमिहेति शब्दे न साध्यत्वेनैवेष्टमिति । साध्यत्वेनेष्टिनियमाभावमाह । साधनत्वेनाभिधानादिति । यतः साधनत्वेनाभिहितमतः साधनत्वेनापीष्टम् । न साध्यत्वेनैवेति ।

स्वयमिति वादिना यस्तदा साधनमाह । एतेन यद्यपि क्वचिच्छास्त्रे स्थितसाधनमाह । तच्छास्त्रकारेण तस्मिन्धर्मिण्यनेकधर्माभ्युपगमेऽपि यस्तदा तेन वादिना धर्मः स्वयं साधयितुमिष्टः स एव साध्यो नेतर इत्युक्तं भवति ।

स्वयमित्यनेन स्वयंशब्दं व्याख्येयमुपक्षिप्य तस्यार्थमाह । वादिनेति । स्वयंशब्दो निपातः । आत्मन इति षष्ठ्यन्तस्यात्मनेति च तृतीयान्तस्यार्थे वर्तते । तदिह तृतीयान्तस्यात्मशब्दस्यार्थे वृत्तः स्वयंशब्दः । आत्मशब्दश्च सम्बन्धिशब्दो वादी च प्रत्यासन्नभूतो यस्य वादिन आत्मा तृतीयार्थयुक्तः स एवं

१ च' इति पद ख० पुस्तके नैवावलोक्यते ।
२ उदाहरति, ख० उदाहरति यथेति ।
३ तृतीयान्तस्यार्थे वर्तते, ख० तृतीयान्तस्यार्थेन युक्तः ।
४ 'एव' इति पद ख० पुस्तके न विद्यते ।

तृतीयार्थयुक्तो निर्दिष्टो वादिनेति । ननु स्वयंशब्दस्य वादिनेत्येष पर्यायः । कः पुनरसौ वादीत्याह । यस्तदेति । वादकाले साधनमाह । अनेकवादिसम्भवेऽपि[1] स्वयंशब्दवाच्यस्य वादिनो विशेषणमेतत् यथैव वादिन इष्टः साध्य इत्युक्तम् । एतेन च किमुक्तेन । अनेन तदा वादकाले तेन वादिना स्वयं यो धर्मः साधयितुमिष्टः स एव साध्यो नेतरो धर्म[2] इत्युक्तं भवति । वादिनोऽनिष्टधर्मसाध्यत्वनिवर्तनमस्य वचनस्य फलमिति यावत् । अथ कस्मिन्सत्यन्यधर्मसाध्यत्व[3]संभवो यन्निवृत्त्यर्थं चेदं[4] वक्तमित्याह । तच्छास्त्रकारेणेति । यच्छास्त्रं तेन वादिनाभ्युपगतं तच्छास्त्रकारेण तस्मिन्साध्यधर्मिण्यनेकस्य धर्मस्याभ्युपगमे सत्यन्यधर्मसाध्यत्वसंभवः । तथा हि शास्त्रं येनाभ्युपगतं तत्सिद्धो धर्मः सर्व एव तेन साध्य इत्यस्ति विप्रतिपत्तिरनेनापास्यते । अनेकधर्माभ्युपगमेऽपि सति स एव साध्यो यो वादिन इष्टो नान्य इति ।

ननु च शास्त्रानपेक्षं वस्तुबलप्रवृत्तं लिङ्गम् । अतोऽनपेक्षणीयत्वान्न शास्त्रे स्थित्वा वादः कर्तव्यः । सत्यम् । आहोपुरुषिकया तु यद्यपि कश्चिच्छास्त्रे स्थित इति किंचिच्छास्त्रमभ्युपगतः साधनमाह । तथापि य एव तस्येष्टः[5] स एव साध्य इति ज्ञापनायेदमुक्तम्—

इष्ट इति यत्रार्थे विवादेन साधनमुपन्यस्तं तस्य सिद्धिमिच्छता सोऽनुक्तोऽपि वचनेन साध्यस्तदाधिकरणत्वाद्विवादस्य ।

---

१ 'अपि' इति पदं ख० पुस्तके नास्त्येव ।

२ इद पद ख० पुस्तके न विद्यते ।

३ साध्यत्व०, ख० साध्यत्वस्य । ४ चेदं, ख० चैतत् ।

५ 'तस्य' इति पदं ख० पुस्तके न विद्यते ।

इष्ट इति । इष्टशब्दमुपक्षिप्य व्याचष्टे । यत्रार्थ आत्मनि विरुद्धो वादः प्रक्रान्तो नास्त्यात्मेत्यात्मप्रतिषेधवाद आत्मसत्तावादविरुद्धो विधिप्रतिषेधयोर्विरोधात् । तेन विवादेन हेतुना साधनमुपन्यस्तम् । तस्यात्मार्थस्य सिद्धिं निश्चयमिच्छता वादिना सोऽर्थः साध्य इत्युक्तं भवतीष्टशब्देन । यत्तदित्युक्तं भवतीतिग्रहणमन्ते तदिहापेक्ष्य वाक्यं परिसमापयितव्यम् । यद्यपि परार्थानुमान उक्त एव साध्यो युक्तोऽनुक्तोऽपि तु वचनेन साध्यः सामर्थ्योक्तत्वात्तस्य । कुत एतदित्याह । तदित्यादि । तदिति । सोऽधिकरणमाश्रयो यस्य स तदधिकरणो विवादस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादित्येतदुक्तं भवति । यस्माद्विवादं निराकर्तुमिच्छता वादिना साधनमुपन्यस्तं तस्माद्यदधिकरणं विवादस्य तदेव साध्यम् । यतो विरुद्धं वादमपनेतुं साधनमुपन्यस्तम् । तच्चेन्न साध्यं किमिदानीं जगति नियतं किंचित्साध्यं स्यादिति ।

अनुक्तमपि परार्थानुमाने साध्यमिष्टं तदुदाहरति—

यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनासनाद्यङ्गवदिति । अत्रात्मार्था इत्यनुक्तावप्यात्मार्थतानेनोक्तमात्रमेव साध्यमित्युक्तं भवति ।

परार्था इति । चक्षुरादिर्येषां श्रोत्रादीनां ते[1] चक्षुरादय इति धर्मी । परस्मायिमे परार्था इति साध्यम् परार्थ्यम् । संघातत्वादिति हेतुः । व्याप्तिविषयप्रदर्शनं शयनासनाद्यङ्गवदिति । शयनमासनं च ते आदी यस्य तच्छयनासनादि पुरुषोपभोगाङ्गं संघातरूपम् । तद्वदत्र । यत्प्रमाणे यदप्यात्मार्थाश्च-

१ 'तत्' इति पदं ख० पुस्तके न दृश्यते ।
२ 'ते' इति पदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते ।

क्षुरादय इत्यात्मार्थता नोक्ता । अनुक्ताप्यात्मार्थता साध्या । तथा हि । सांख्येनोक्तमस्त्यात्मा । तद्विरुद्धं बौद्धेनोक्तं नास्त्यात्मेति । ततः सांख्येन स्ववादविरुद्धं बौद्धवादं हेतूकृत्य विरुद्धवादनिराकरणाय स्ववादप्रतिष्ठापनाय च साधनमुपन्यस्यम् । अतोऽनुक्ताप्यात्मार्थता साध्या तदधिकरणत्वाद्विवादस्य । शयनासनादिषु हि पुरुषोपभोगाङ्गेष्वात्मार्थत्वेनान्वयो न प्रसिद्धः संघातत्वस्य । परार्थमात्रेण तु सिद्धः । ततः परार्था इत्युक्तम् । चक्षुरादय इत्यत्रादिग्रहणाद्विज्ञानमपि परार्थं साधयितुमिष्टम् । विज्ञानाच्च पर आत्मैव स्यात् । परस्यार्थकारि विज्ञानं सेत्स्यतीति सामर्थ्यादात्मार्थत्वं सिध्यति चक्षुरादीनामिति मत्वा परार्थग्रहणं कृतम् । तेनेष्टमाध्यवचनेन नोक्तमात्रमपि तु प्रतिवादिनो विवादास्पदत्वाद्वादिनः साधयितुमिष्टमुक्तमनुक्तं वा प्रकरणगम्यं साध्यमित्युक्तं भवति—

अनिराकृत इति । एतल्लक्षणयोगेऽपि यः साधयितुमिष्टोऽप्यर्थः प्रत्यक्षानुमानप्रतीतिस्ववचनैर्निराक्रियते न स पक्ष इति प्रदर्शनार्थम् ।

अनिराकृत इति व्याख्येयम् । एतदित्यनन्तरप्रकान्तं यत्पक्षलक्षणमुक्तं साध्यत्वेनेष्टत्यादि । एतल्लक्षणेन योगेऽप्यर्थो न पक्ष इति प्रदर्शनार्थं प्रदर्शनायानिराकृतग्रहणं कृतम् । कीदृशोऽर्थो न पक्षः साधयितुमिष्टोऽपीत्याह । यः साधयितुमिष्टोऽर्थः

१ 'अनुक्ता' इति पाठ. ख० पुस्तके न विद्यते ।
२ शयनासनादिषु, क० शयनादिषु ।
३ क० आत्मार्थत्वेन प्रसिद्धः ।
४ 'परस्य' इति पद ख० पुस्तके नोपलभ्यते ।
५ अनिराकृतः, क० अनिकृतः ।
६ प्रदर्शनाय, ख० प्रतिपादनाय ।

प्रत्यक्षं चानुमानं च प्रतीतिश्च स्ववचनं चैतैर्निराक्रियते विपरीतः साध्यते न स पक्ष इति—

तत्र प्रत्यक्षनिराकृतो यथा-अश्रावणः शब्द इति।

तत्रेति। तेषु चतुर्षु प्रत्यक्षादिनिराकृतेषु प्रत्यक्षनिराकृतः कीदृशः। यथेति। यथायं प्रत्यक्षनिराकृतस्तथान्येऽपि द्रष्टव्या इति यथाशब्दार्थः। श्रवणेन ग्राह्यः श्रावणः। न श्रावणोऽश्रावणः श्रोत्रेण च ग्राह्य इति प्रतिज्ञार्थः। श्रोत्राग्राह्यत्वं शब्दस्य प्रत्यक्षसिद्धेन श्रोत्रग्राह्यत्वेन बाध्यते—

अनुमाननिराकृतो यथा-नित्यः शब्द इति।

अनुमाननिराकृतः। नित्यः शब्द इति शब्दस्य प्रतिज्ञातं नित्यत्वमनित्यत्वेनानुमानसिद्धेन निराक्रियते—

प्रतीतिनिराकृतो यथा-अचन्द्रः शशीति।

प्रतीत्या निराकृतः। अचन्द्र इति। चन्द्रशब्दवाच्यो न भवति शशीति प्रतिज्ञातार्थः। अयं च प्रतीत्या निराकृतः। प्रतीतोऽर्थ उच्यते। विकल्पविज्ञानाविषयः प्रतीतिः। प्रतीतत्वं विकल्पविज्ञानविषयत्वमुच्यते। तेन विकल्पविज्ञानविषयत्वेन प्रतीतिरूपेण शशिनश्चन्द्रशब्दवाच्यत्वं सिद्धमेव। तथा हि। यद्विकल्पज्ञानग्राह्यं तच्छब्दाकारसंसर्गयोग्यम्। नत्सांकेतिकेन शब्देन वक्तुं शक्यम्। अतः प्रतीतिरूपेण विकल्पविज्ञानविषयत्वेन सिद्धं चन्द्रशब्दवाच्यत्वमचन्द्रत्वस्य बाधकं द्रष्टव्यम्। स्वभावहेतुश्च प्रतीतिः। यस्माद्विकल्पविषयत्वमात्रानु-

---

१ न स पक्षः, ख० स न पक्षः।

२ 'प्रत्यक्ष' इति पाठ. ख० पुस्तके नोपलभ्यते।

३ विकल्पविज्ञानविषयत्वेन, क० विकल्पविज्ञानेन।

४ ०विकल्पज्ञानग्राह्यं, क० ज्ञानग्राह्यं।

बन्धिनी सांकेतिकशब्दवाच्यता ततः स्वभावहेतुसिद्धं चन्द्रशब्दवाच्यत्वमवाच्यत्वस्य बाधकं द्रष्टव्यम्—

स्ववचननिराकृतो यथा-नानुमानं प्रमाणम् ।

स्ववचनं प्रतिज्ञार्थस्यात्मीयो वाचकः शब्दस्तेन निराकृतः । प्रतिज्ञार्थो न साध्यः । यथा नानुमानं प्रमाणम् । अत्रानुमानस्य प्रामाण्यनिषेधः प्रतिज्ञार्थः । स नानुमानं प्रमाणमित्यनेन स्ववाचकेन वाक्येन बाध्यते । वाक्यं ह्येतत्प्रयुज्यमानं वक्तुः शाब्दस्य प्रत्ययस्य सदर्थत्वमिष्टं सूचयति । तथाहि । मद्वाक्याद्योऽर्थप्रत्ययस्तवोत्पद्यते सोऽसत्यार्थ इति दर्शयन्वाक्यमेव नोच्चारयेद्वक्ता । वचनार्थश्चेदसत्यः परेण ज्ञातव्यो वचनमपार्थकम् । योऽपि हि सर्वं मिथ्या ब्रवीमीति[1] वक्ति सोऽप्यस्य वाक्यस्य सत्यार्थत्वमादर्शयन्नेव वाक्यमुच्चारयति । तद्येतद्वाक्यं[2] सत्यार्थमादर्शितम् । एवं वाक्यान्तराण्यात्मीयान्यसत्यार्थानि दर्शितानि भवन्ति—

एतदेव तु यद्यसत्यार्थमन्यान्यसत्यार्थानि[3] न दर्शितानि भवन्ति ।

ततश्च न किंचिदुच्चारणस्य फलमिति नोच्चारयेत् । तस्माद्वाक्यप्रभवं वाक्यार्थालम्बनं विज्ञानं सत्यार्थं दर्शयन्नेन वक्ता वाक्यमुच्चारयति । तथा[4] च सति बाह्यवस्तुनान्तरीयकं शब्दं दर्शयता शब्दजं विज्ञानं सत्यार्थं दर्शयितव्यम् । ततो बाह्यार्थकार्याच्छब्दादुत्पन्नं विज्ञानं सत्यार्थमादर्शयता[5] कार्यलिङ्गज-

---

१ ब्रवीमीति वक्ति, ख० ब्रवीमि वक्ति ।

२ 'तद्येतद्' इति पाठः क० पुस्तक एव विद्यते । अन्यत्र सर्वत्र तु 'यद्येतद्' इति पाठः एव ।

३ क० असत्यानि ।   ४ तथा, क० यथा ।

५ आदर्शयता, क० आदर्शयिता ।

मनुमानं प्रमाणं शाब्दं दर्शितं भवति। तस्मान्नानुमानं प्रमाणमिति ब्रुवता शाब्दस्य[1] प्रत्ययस्यासन्ग्राह्यं[2] उक्तोऽसदर्थत्वमेव ह्यप्रामाण्यमुच्यते । नान्यत् । शब्दोच्चारणसामर्थ्याच्चार्थाविनाभावी स्वशब्दो दर्शितः । तथा च सन्नर्थो दर्शितः । ततः कल्पितादर्थकार्याच्छब्दाच्छाब्दप्रत्ययार्थस्या[3]नुमितं सत्त्वं प्रतिज्ञायमानमसत्त्वं प्रतिबध्नाति । तदेवं स्ववचनानुमितेन सत्त्वेनासत्त्वं वाच्यमानं स्ववचनेन बाधितमुक्तमित्ययमत्रार्थः ।

अन्ये त्वाहुः । अभिप्रायकार्याच्छब्दाज्जातं ज्ञानमभिप्रायालम्बनं सदर्थमिच्छतः शब्दप्रयोगः । तेनाप्रामाण्यं प्रतिज्ञातं बाध्यत इति । तदयुक्तम् । यत इह प्रतीतेः स्वभावहेतुत्वं स्ववचनस्य च कार्यहेतुत्वं कल्पितमिष्टम् । न वास्तवम् । अभिप्रायकार्यत्वं च वास्तवमेव शब्दस्य । ततस्तदिह न गृह्यते । किं च यथानुमानमनिच्छन्वन्ह्यव्यभिचारित्वं धूमस्य न प्रत्येति । तथा शब्दस्याप्यभिप्रायाव्यभिचारित्वं न प्रत्येष्यति । बाह्यवस्तुप्रत्यायनाय च शब्दः[5] प्रयुज्यते । तन्न शब्दस्याभिप्रायाविनाभवित्वाभ्युपगमपूर्वकः शब्दप्रयोगः । अपि[4] च न स्वाभिप्रायनिवेदनाय शब्द उच्चार्यते । अपि तु बाह्यवस्तुसत्त्वप्रतिपादनाय । नस्माद्बाह्यवस्तुविनाभावित्वाभ्युपगमपूर्वकः शब्दप्रयोगः । ततः पूर्वकमेव व्याख्यानमनवद्यम् —

इति चत्वारः पक्षाभासा निराकृता भवन्ति ।

---

१ शाब्दस्य, ख० शब्दस्य ।

२ ख० असन्नर्थो ग्राह्य, क० असन ग्राह्य ।

३ शाब्दप्रत्ययार्थस्य, क० शब्दप्रत्ययार्थस्य ।

४ ख० पुस्तके 'अपि च' इत्यस्मादारभ्य 'शब्दप्रयोगः' इत्येतावत्पर्यन्त द्वे पंक्ती परित्यक्ते । संभवतः लेखकस्य दृष्टिः प्रथम 'शब्दप्रयेगः' इति पदं दृष्ट्वा भ्रमेण द्वितीयस्य 'शब्दप्रयोगः' इत्यस्योपरि पतिता ।

५ शब्दः, क० टब्दः ।

एवं च[1] सत्यनिराकृतग्रहणेनानन्तरोक्ताश्चत्वारः पक्षव-दाभासन्त इति पक्षाभासा निरस्ता भवन्ति ।

संप्रति पक्षलक्षणपदानि येषां व्यवच्छेदकानि तेषां व्य-वच्छेदेन यादृशः पक्षार्थो लभ्यते तं दर्शयितुं व्यवच्छेद्यान्संक्षिप्य-दर्शयति ।

सिद्धस्यासिद्धस्यापि साधनत्वेनाभिमतस्य स्वयं वादिना तदा साधयितुमनिष्टस्योक्तमात्रस्य निराकृ-तस्य च विपर्ययेण साध्यस्तेनैव स्वरूपेणाभिमतो वादिन इष्टो निराकृतः पक्ष इति पक्षलक्षणमनवद्यं[2] दर्शितं भवति ।

एवमित्यनन्तरोक्तक्रमेण[3] सिद्धस्य विपर्ययेण विपरीतत्वेन हेतुना साध्यो द्रष्टव्यः । यस्मादर्थात्सिद्धोऽर्थो विपरीतः स साध्य इत्यर्थः । सिद्धश्च विपरीतोऽसिद्धस्य । तस्मादसिद्धः साध्यः । असिद्धोऽपि न सर्वोऽपि तु साधनत्वेनोक्तस्यासिद्धस्यापि विपर्य-येण स्वयं वादिना साधयितुमनिष्टस्यासिद्धस्य विपर्ययेण । तथोक्तमात्रस्यासिद्धस्यापि विपर्ययेण तथा निराकृतस्यासिद्ध-स्यापि विपर्ययेण साध्यः । यश्चायं पञ्चभिर्व्यवच्छेद्यै रहितो-ऽर्थोऽसिद्धोऽसाधनम्[4] । वादिनः स्वयं साधयितुमिष्ट उक्तोनुक्तो वा[5] प्रमाणैरनिराकृतः[6] साध्यः । स एवासौ स्वरूपेणैव स्वयमिष्टो ऽनिराकृत एतैः पदैरुक्त इत्यर्थः । यश्चायं साध्यः स पक्ष उच्यते ।

---

१ 'च' इति पाठ· ख० पुस्तक एव विद्यते ।

२ मुद्रितपुस्तकस्य 'अवद्य' इति पाठोऽस्माकं सम्मतावशुद्धो-ऽस्ति । ३ अनन्तरोक्तक्रमेण, ख० अनन्तरोक्तेन क्रमेण ।

४ असाधनं, क० असाधन २ ।

५ वा, क० वा ४ । ६ निराकृतः, निराकृतः ५ ।

इतिशब्द एवमर्थे । एवं पक्षलक्षणमनवद्यमिति । अविद्यमानमवद्यं दोषो यस्य तदनवद्यम् । दर्शितं कथितम् ।

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परिसमापय्य प्रसङ्गागतं च पक्षलक्षणमभिधाय हेत्वाभासान्वक्तुकामस्तेषां प्रस्तावं रचयति । त्रिरूपेत्यादिना ।

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमित्युक्तम् ।

एतदुक्तं[1] भवति । त्रिरूपलिङ्गाख्यानं वक्तुकामेन स्फुटं तद्वक्तव्यम् । एवं च तत्स्फुटमुक्तं भवति । यदितच्च तत्प्रतिरूपकं[2] बोध्यते । हेयज्ञाने हि तद्विविक्त[3]मुपादेयं सुज्ञातं भवतीति । त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमिति प्रागुक्तम् ।

तत्र त्रयाणां रूपाणामेकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभास उक्तावप्यसिद्धौ संदेहे वा प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरेकस्य रूपस्य धर्मिसंबन्धस्यासिद्धौ संदेहे चासिद्धो हेत्वाभासः ।

तत्रेति । तस्मिन्सति त्रिरूपलिङ्गाख्याने परार्थानुमाने सतीत्यर्थः । त्रयाणां रूपाणां मध्य एकस्याप्यनुक्तौ । अपिशब्दाद्द्वयोरपि । साधनस्याभासः सदृशं साधनस्य न साधनमित्यर्थः । त्रयाणां रूपाणां न्यूनता नाम साधनदोषः । न केवलमनुक्तावुक्तावप्यसिद्धौ संदेहे वा कस्येत्याह । प्रतिपाद्यस्य प्रतिवादिनः प्रतिपादकस्य च वादिनो हेत्वाभासः । अथ कस्य[4]

---

१ एतद्, तद् ।
२ प्रतिरूपकं, ख० प्रतिरूपम् ।
३ क० विविक्तम् ।
४ कस्य, ख० कस्यैकस्य ।

रूपस्यासिद्धौ संदेहे वा किंसंज्ञको हेत्वाभास इत्याह । एकस्य रूपस्येति । धर्मिणा सह सम्बन्धः धर्मिसंबन्धः । धर्मिणि सत्त्वं हेतोः । तस्यासिद्धौ संदेहे वाऽसिद्धसंज्ञको हेत्वाभासः । असिद्धत्वादेव च धर्मिण्यप्रतिपत्तिहेतुर्न साध्यस्य न विरुद्धस्य न संशयस्य हेतुरपि त्वप्रतिपत्तिहेतुर्न कस्याचिदतः प्रतिपत्तिरिति कृत्वा । अयं चार्थोऽसिद्धसंज्ञाकरणादेव प्रतिपत्तव्यः ।

उदाहरणमाह—

यथा-अनित्यः शब्द इति साध्ये चाक्षुषत्वमुभयासिद्धम् ।

यथेत्यादि । अनित्यः शब्द इत्यनित्यत्वविशिष्टे शब्दे साध्ये चाक्षुषत्वं चक्षुर्ग्राह्यत्वं शब्दे द्वयोरपि वादिप्रतिवादिनोरसिद्धम् ।

चेतनास्तरव इति साध्ये सर्वत्वगपहरणे मरणं प्रतिवाद्यसिद्धं विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य मरणस्यानेनाभ्युपगमात्तस्य च तरुष्वसंभवात् ।

चेतनास्तरव इति तरूणां चैतन्ये साध्ये सर्वा त्वक्सर्वत्वक् । तस्या अपहरणे सति मरणं दिगम्बरैरुपन्यस्तम् । प्रतिवादिनो बौद्धस्यासिद्धम् । कस्मादसिद्धमित्याह । विज्ञानं चेन्द्रियं चायुश्च । रूपादिविज्ञानोत्पत्त्या यदनुमितं कायान्तर्भूतं चक्षुर्गोलकादिस्थितरूपं तदिन्द्रियम् । आयुरिति लोके प्राणा उच्यन्ते । न चागमसिद्धमिह युज्यते वक्तुम् । अतः प्रमाणस्वभावमायुरि-

१ वा किं०, क० वाक्यं । २ अनित्यः, ख० नित्यः ।
३ ख० द्वयोर्द्वयोरपि ।
४ चायुश्च, ख० चायुश्च तत्रविज्ञान (अशुद्धः) चक्षुरादि जयिन (अशुद्धः) । ५ ख० कार्यान्तभूत । ६ ख० उच्यते ।
७ आयुरिह । तेषां, ख० आयुः । इह तेषां ।

ह। तेषां निरोधो निवृत्तिः। स लक्षणं तत्त्व यस्य तत्तथोक्तम्। तथाभूतस्य मरणस्यानेन बौद्धेन प्रतिज्ञातत्वात्। यदि नामैवं तथापि कथमसिद्धमित्याह। तस्य च विज्ञानादिनिरोधात्मकस्य तरुष्वसंभवात्[1]। सत्तापूर्वको निरोधः। ततश्च यो विज्ञाननिरोधं तरुष्विच्छेत्स कथं विज्ञानं नेच्छेत्। तस्माद्विज्ञानानिष्टेर्निरोधोपि नेष्टस्तरुषु। ननु च शोषोऽपि मरणमुच्यते। स च तरुषु सिद्धः। सत्यम्। केवलं विज्ञानसत्तया[2] व्याप्तं यन्मरणं तदिह हेतुर्विज्ञाननिरोधश्च। तत्सत्तया[3] व्याप्तो न शोषमात्रम्। ततो[4] यन्मरणहेतुस्तत्तरुष्वसिद्धम्। यत्तु सिद्धं शोषात्मकं तदहेतुः। दिगम्बरस्तु साध्येन व्याप्तमव्याप्तं वा मरणमविविच्य मरणमात्रं हेतुमाह। तदस्य वादिनो हेतुभूतं[5] मरणं न ज्ञातम्। अज्ञानात्सिद्धं शोषरूपम्। शोषरूपस्य मरणस्य तरुषु दर्शनात्। प्रतिवादिनस्तु ज्ञातमनोऽसिद्धम्। यदा तु वादिनोऽपि ज्ञातं तदा वादिनोप्यसिद्धं स्यादिति न्यायः।

अचेतनाः सुखादय इति साध्य उत्पत्तिमत्त्वमनित्यं वा सांख्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धम्।

अचेतनाः सुखादय इति। सुखमादिर्येषां दुःखादीनां ते सुखादयः। तेषामचैतन्ये साध्य उत्पत्तिमत्त्वमनित्यत्वं वा लिङ्गमुपन्यस्तम्। य उत्पत्तिमन्तोऽनित्या वा ते न चेतना यथा रूपादयः। तथा चोत्पत्तिमन्तोऽनित्या वा सुखादयस्तस्मादचेतनाः। चैतन्यं तु पुरुषस्य स्वं रूपम्। अत्र चोत्पत्तिमत्त्वम-

१ असंभवात्, ख० अभावात्।
२ विज्ञानसत्तया'। क०मुद्रितपुस्तके च 'विज्ञानसत्ताया'।
३ सत्तया, क० मुद्रितपुस्तके च 'सत्ताया'
४ ततः क० तत्र।
५ हेतुभूतं, क० हेतुज्ञात्ततं (अशुद्धः)।

नित्यत्वं वा पर्यायेण हेतुर्न युगपत्। तच्च द्वयमपि सांख्यस्य वादिनो न सिद्धम्। परार्थो हि[1] हेतूपन्यासः। तेन यः परस्य सिद्धः स हेतुर्वक्तव्यः। परस्य चासत उत्पाद उत्पत्तिमत्त्वम्। सतश्च निरन्वयो विनाशोऽनित्यत्वं सिद्धम्। तादृशं च द्वयमपि सांख्यस्यासिद्धम्। इहाप्यनित्यत्वोत्पत्तिमत्त्वसाधनाज्ञानाद्वादिनोऽसिद्धम्। यदि त्वनित्यत्वोत्पत्तिमत्त्वयोः प्रमाणं[2] वादिनो ज्ञातं स्यात्[3]। वादिनोपि सिद्धं स्यात्। ततः प्रमाणापरिज्ञानादिदं वादिनोऽसिद्धम्।

संदिग्धासिद्धं दर्शयितुमाह—

तथा स्वयं तदाश्रयणस्य वा संदेहेऽसिद्धः।

स्वयमिति। हेतोरात्मनः संदेहेऽसिद्धः। तदाश्रयणस्य चेति। तस्य हेतोराश्रयणमाश्रीयतेऽस्मिन्हेतुरित्याश्रयणं हेतोर्व्यतिरिक्त आश्रयभूतः साध्यधर्मी कथ्यते। तत्र हि हेतुर्वर्तमानो गमकत्वेनाश्रीयते। तस्याश्रयणस्य संदेह संदिग्धः।

स्वात्मना संदिह्यमानमुदाहर्तुमाह—

यथा बाष्पादिभावेन संदिह्यमानो भूतसंघातोऽग्निसिद्धावुपदिश्यमानः संदिग्धासिद्धः।

यथेति। बाष्प आदिर्यस्य स बाष्पादिस्तद्भावेन बाष्पादि[4]त्वेन संदिह्यमानो भूतसंघात इति। भूतानां पृथिव्यादीनां संघातः समूहः। अग्निसिद्धावग्निसिद्ध्यर्थमुपादीयमानोऽसिद्धः। एतदुक्तं भवति। यदा धूमोऽपि बाष्पादित्वेन संदिग्धो भवति। तदासिद्धो गमकः[5]। यानिश्चयाद्धूमतया निश्चितो वह्निजन्यत्वाद्गमकः। यदा तु संदिग्धस्तदा न गमक इति। असिद्धतारूयो दोषः।

१ परार्थो हि, ख० परार्थादि। २ प्रमाण, ख० प्रामाण्यं। ३ स्यात्, ख० स्यात्तदा। ४ क० बाष्पादिह्यमाना। ५ क० गक।

आश्रयणासिद्धमुदाहरति—

यथेह निकुञ्जे मयूरः केकायितादिति ।

यथेति । इह निकुञ्ज इति धर्मी । पर्वतोपरिभागेन तिर्यङ्नि-र्गतेन प्रच्छादितो भूभागो निकुञ्जः । मयूर इति साध्यम् । केकायितादिति हेतुः । केकायितं मयूरध्वनिः ।

कथमाश्रयणासिद्ध इत्याह—

तदापातदेशविभ्रमे ।

तदापात[1] इति । तस्य केकायितस्यापात आगमनं तस्य देशः स उच्यते । यस्माद्देशादागच्छति केकायितम् । तस्य विभ्रमे व्यामोहे सत्ययमाश्रयणासिद्धः । निरन्तरेषु बहुषु निकु-ञ्जेषु सत्सु यदा केकायितापातविभ्रमः[2] किमस्मान्निकुञ्जात्केका-यितमागतमाहोस्विदस्मा[3]दिति तदाश्रयणासिद्ध इति ।

धर्मिणो सिद्धावप्यसिद्धत्वमुदाहरति —

धर्म्यसिद्धावप्यसिद्धो यथा सर्वगत आत्मेति साध्ये सर्वत्रोपलभमानगुणत्वम् ।

यथेति । सर्वस्मिन्गतः स्थितः सर्वगतो व्यापीति यावत् । व्यापित्व आत्मनः साध्ये सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं लिङ्गम् । सर्वत्र देश उपलभ्यमानाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयो गुणा यस्यात्म-नस्तस्य भावस्तत्त्वम् । न गुणा गुणिनमन्तरेण वर्तन्ते । गुणा-नां गुणिनि समवायात् । निष्क्रियश्चात्मा । ततश्च यदि व्यापी न भवेत्कथं दक्षिणापथ उपलब्धाः सुखादयो मध्यदेश उपलभ्येरन् । तस्मात्सर्वगत आत्मा । तदिह बौद्धस्यात्मैव न सिद्धः किमुत

---

१ क० तद्घात ।

२ केकायितापातविभ्रमः, ख० केकायितापातनिकुजे विभ्रमः ।

३ अस्मात्, ख० अन्यस्मात् ।

सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं सिध्येत् । तस्येत्यसिद्धौ हेत्वाभासः। पूर्वमाश्रयणसंदेहेन धर्मिणि संदेह उक्तः । संप्रति त्वसिद्धो धर्म्युक्त इत्यनयोर्विशेषस्तदेवमेकस्य रूपस्य धर्मिबद्धस्यासिद्धावसिद्धो हेत्वाभासः ।

तथैकस्य रूपस्यासपक्षेऽसत्त्वस्यासिद्धावनैकान्तिको हेत्वाभासः ।[1]

तथा परस्यैकस्य रूपस्यासपक्षेऽसत्त्वाख्यस्यासिद्धावनैकान्तिको हेत्वाभासः । एकोऽन्त एकान्तो निश्चयः । स प्रयोजनमस्येत्यैकान्तिकः । नैकान्तिकोऽनैकान्तिकः । यस्मान्न साध्यस्य न विपर्ययस्य निश्चयोऽपि तु तद्विपरीतः संशयः। साध्येतरयोः संशयहेतुरनैकान्तिक उक्तः ।

तमुदाहरति—

यथा शब्दस्यानित्यत्वादिके धर्मे साध्ये प्रमेयत्वादिको धर्मः सपक्षविपक्षयोः । सर्वत्रैकदेशे वा वर्तमानस्तथास्यैव रूपस्य संदेहेऽप्यनैकान्तिक एव ।

यथेत्यादिना । अनित्यत्वमादिर्यस्य सोऽनित्यत्वादिको धर्मः । आदिशब्दादप्रयत्नानन्तरीयकत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं नित्यत्वं च परिगृह्यते[2] प्रमेयत्वमादिर्यस्य स प्रमेयत्वादिकः । आदिशब्दादनित्यत्वं पुनरनित्यत्वममूर्तत्वं च गृह्यते[3] । शब्दस्य धर्मिणोऽनित्यत्वादिके धर्मे साध्ये प्रमेयत्वादिको धर्मोऽनैकान्तिकः । चतुर्णामपि विपक्षेऽसत्त्वमसिद्धम् । तथाहि । अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वादाकाशवद्घटवदिति प्रमेयत्वं सपक्षविपक्षव्यापि ।

---

१ मुद्रितपुस्तकस्य 'सत्त्वस्य' इति पाठोऽशुद्धः प्रतीयते ।

२ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते ।

३ गृह्यते, ख० गृह्यते ।

अप्रयत्नानन्तरीयकः शब्दोऽनित्यत्वाद्विद्युदाकाशवद्घटवच्चेत्यनित्यत्वं सपक्षैकदेशवृत्ति विद्युदादावस्ति नाकाशादौ। विपक्षव्यापि प्रयत्नानन्तरीयके सर्वत्र भावात्। अनित्यत्वात्प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो घटवद्विद्युदाकाशवच्चेत्यनित्यत्वं विपक्षैकदेशशब्दवृत्ति विद्युदादावस्ति नाकाशादौ। सपक्षव्यापि सर्वत्र प्रयत्नानन्तरीयके भावात्। नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वादाकाशपरमाणुवत्कर्मघटवच्चेत्यमूर्तत्वमुभयैकदेशवृत्ति। उभयोरेकदेश आकाशे कर्मणि च वर्तते। परमाणौ तु सपक्षैकदेशे घटादौ च विपक्षैकदेशे न वर्तते। मूर्तत्वाद्घटपरमाणुप्रभृतीनाम्। नित्यास्तु परमाणवो वैशेषिकैरभ्युपगम्यन्ते। ततः सपक्षान्तर्गताः। अस्य चतुर्विधस्य पक्षधर्मस्यासत्त्वमासिद्धं विपक्षे। ततोऽनैकान्तिकता। यथा चास्य रूपस्यासिद्धावनैकान्तिकस्तथास्यैव विपक्षेऽसत्त्वाख्यस्य रूपस्य संदेहेऽनैकान्तिकः।

तमुदाहरति —

यथाऽसर्वज्ञः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो रागादिमान्वेति साध्ये वक्तृत्वादिको धर्मः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः। सर्वत्रैकदेशो वा सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते इति।

यथेति। असर्वज्ञ इति। असर्वज्ञत्वं साध्यम्। कश्चिद्विवक्षित इति वक्तुरभिप्रेतः पुरुषो धर्मी। राग आदिर्यस्य द्वेषादेः स रागादिः स यस्यास्ति स रागादिमानिति द्वितीयं साध्यम्। वाग्रहणं रागादिमत्त्वस्य पृथक्साध्यत्वख्यापनार्थम्। ततोऽसर्वज्ञत्वे रागादिमत्त्वे वा साध्ये प्रकृते वक्तृत्वं वचनशक्तिस्तदादिर्यस्योन्मेषनिमेषादेः स वक्तृत्वादिको धर्मोऽनैकान्तिकः। संदिग्धा विपक्षाद्व्यावृत्ति-

१ क० विद्युदाकाशद्घटवत्।

२ लेखकस्य प्रमादेन ख० पुस्तके 'नाकाशादौ' इयमध्यस्थः पाठः परित्यक्तः। ३ संदिग्धा, ख० संदिग्ध०।

र्यस्य स तथोक्तः। असर्वज्ञत्वे साध्ये सर्वज्ञत्वं विपक्षः। तत्र वचनादेः सत्त्वमसत्त्वं वा संदिग्धम्। अतो न ज्ञायते वक्ता सर्वज्ञ उतासर्वज्ञ इत्यनैकान्तिकं वक्तृत्वम्।

ननु च[1] सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते तत्कथं वचनं सर्वज्ञे संदिग्धम्। अत एव सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यत इति।

एवं प्रकारस्यानुपलम्भस्यादृश्यात्मविषयत्वेन संदेहे हेतुत्वात्।

एवंप्रकारस्यैवंजातीयस्यानुपलम्भस्य[2] संदेहहेतुत्वात्। कुत इत्याह। अदृश्यात्मा विषयो यस्य तस्य भावोऽदृश्यात्मविषयत्वं तेन संदेहहेतुत्वम्।

असर्वज्ञविपर्ययाद्वक्तृत्वादेर्व्यावृत्तिः संदिग्धा। वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्विरोधाभावाच्च।

यतोऽदृश्यविषयोऽनुपलम्भः संशयहेतुर्न[3] निश्चयहेतुस्ततोऽसर्वज्ञविपक्षात्सर्वज्ञाद्वक्तृत्वादेर्व्यावृत्तिः संदिग्धा। नानुपलम्भात्। सर्वज्ञे[4] वक्तृत्वमसद्गमोऽपि तु सर्वज्ञत्वेन सह वक्तृत्वस्य विरोधात्। एतच्च सर्वज्ञत्ववक्तृत्वयोर्विरोधो नास्ति। विरोधाभावाच्च कारणाद्व्यतिरेको न सिध्यतीति सम्बन्धः।

व्याप्तिमन्तं व्यतिरेकं दर्शयति।

यः सर्वज्ञः स वक्ता न भवतीत्यदर्शनेऽपि व्यतिरेको न सिध्यति। संन्देहात्[5]।

---

१ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते।

२ एवजातीयस्य, ख० एवजातीयकस्य।

३ संशयहेतुः, ख० संदेहेतुः (अशुद्धः)।

४ सर्वज्ञ, ख० संदिग्धे।

५ मुद्रितपुस्तकस्य संपादकेन 'संदेहात्' इति हेतुवाक्यं द्विविधामित्याग्रिमवाक्ये निबद्धम्।

यः सर्वज्ञ इति। साध्याभावरूपं सर्वज्ञत्वमनूद्य न स वक्ता भवतीति साधनस्य वक्तृत्वस्याभावो विधीयते। तेन साध्याभावः साधनाभावे नियतत्वात्साधनाभावेन व्याप्त उक्त इति व्याप्तिमानीदृशो व्यतिरेको विरोधे सति वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोः सिध्येत्। न चास्ति विरोधः। तस्मान्न सिध्यति। कुत इत्याह। संदेहात्। यतो विरोधाभावस्तस्मात्संदेहः। संदेहाद्व्यतिरेकासिद्धिः।

कथं विरोधाभावः।

द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः।

हीति। यस्माद्द्विविध एव विरोधो नान्यः। तस्मान्न वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्विरोधः।

कः पुनरसौ द्विविधो विरोध इत्याह।

अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावः।

अविकलकारणस्येति। अविकलानि समग्राणि कारणानि यस्य स तथोक्तः। यस्य कारणवैकल्यादभावो न तस्य केनचिदपि विरोधगतिः। तदर्थमविकलकारणग्रहणम्।

ननु च यस्यापि कारणसाकल्यं तस्यापि निवृत्तिरशक्या केनाचिदपि कर्तुं तत्कुतो विरोधगतिः। एवं तर्हि।

अभावाद्विरोधगतिः।

अविकलकारणस्यापि यत्कृतात्कारणवैकल्यादभावः। तेन विरोधगतिः। तथा च सति यो यस्य विरुद्धः स तस्य किंचि-

---

१ न स वक्ता, ख० स वक्ता न।

२ साधनाभावेन, ख० साधर्म्यभावेन।

३ सिध्यति, ख० सिध्यतीति।

४ हीति यस्मात्, ख० हियस्मात्।

त्कर एव। तथा हि। शीतस्पर्शस्य जनको भूत्वा शीतस्पर्शान्तरजननशक्तिं प्रतिबध्नञ्शीतस्पर्शस्य निवर्तको विरुद्धः। तस्माद्धेतुवैकल्यकारी विरुद्धो जनक एव। निवर्त्यस्य सहानवस्थानविरोधश्चायम्। ततो विरुद्धयोरेकस्मिन्नपि क्षणे सहावस्थानं परिहर्तव्यम्। दूरस्थयोर्विरोधाभावाच्च निकटस्थयोरेव निवर्त्यनिवर्तकभावः। तस्माद्यो यस्य निवर्तकः स तं यदि परं तृतीये क्षणे निवर्तयति। प्रथमे क्षणे सन्निपतन्नसमर्थावस्थानयोग्यो भवति। द्वितीये विरुद्धमसमर्थं करोति। तृतीये त्वसमर्थे निवृत्ते तद्देशमाक्रामति। तत्रालोको गतिधर्मा क्रमेण जलतरंगन्यायेन देशमाक्रामन्यदान्धकारे निरन्तरमालोकक्षणं जनयति, तदालोकसमीपवर्तिनमन्धकारमसमर्थं जनयति। ततोऽसामर्थ्यं तस्य यस्य समीपवर्त्यालोकः। असामर्थ्ये निवृत्ते तादृशो जायत आलोक इत्येवं क्रमेणालोकेनान्धकारोऽपनेयः। तथोष्णस्पर्शेन शीतस्पर्शो निवर्तनीयः। यदा त्वालोकस्तत्रैवान्धकारे देशे जन्यते तदा यतः क्षणादन्धकारदेशस्यालोकस्य जनकक्षण उत्पद्यते तत एवान्धकारोऽन्धकारान्तरजननासमर्थ उत्पन्नः। ततोऽसमर्थावस्थाजनकत्वमेव निवर्तकत्वम्। अतश्च यस्मिन क्षणे जनकस्ततस्तृतीये क्षणे निवृत्तो विरुद्धो यदि शीघ्रं निवर्तते। जन्यजनकभावाच्च संतानयोर्विरोधो न क्षणयोः। यद्यपि च न संतानो नाम वस्तु तथापि संतानिनो वस्तुभूताः। ततोऽयं पर-

---

१ आक्रामन्, ख० आक्रामयन्।

२ असामर्थ्ये, क० असमर्थ्ये, ख० असमर्थे।

३ अन्धकारान्तरजननासमर्थ, क०अन्धकारान्तरासमर्थः, ख० अन्धकारान्तराजनना समर्थः।

४ असमर्थावस्था०, ख० असामर्थ्यावस्था०।

५ संतानयोः, क० संतनयोः।

मार्थः न क्षणयोर्विरोधः । अपि तु बहूनां क्षणानां । यतः सत्सु दहनक्षणेषु प्रवृत्ता अपि शीतक्षणा निवृत्तिधर्माणो भवन्तीति । संतानयोर्निवर्त्यनिवर्तकत्वनिमित्ते च विरोधे स्थिते सर्वेषां परमाणूनां सत्यप्येकदेशावस्थानाभावेन विरोध इतरेतरसंतानानिवर्तनात्तेषां गतिधर्मा चालोको यां दिशमाक्रामति तद्दिग्वर्तिनो[1] विरोधिसंतानान्निवर्तयति । ततोऽपवरकैकदेशस्था प्रदीपप्रभान्धकारनिकटवर्तिन्यपि नान्धकारं निवर्तयति । अन्धकाराक्रान्तायां[2] दिश्यालोकक्षणान्तरजननासामर्थ्यात् । कारणासामर्थ्यहेतुकं[3] संताननिष्टमेव विरोधं दर्शयता भवतेति[4] कृतम् । भवतः प्रबन्धेन वर्तमानस्य शीतस्पर्शसंतानस्याभावोऽन्यस्योष्णस्पर्शसन्तानस्य भावे सतीति ।

ये त्वाहुर्न विरोधो वास्तव इति त इदं वक्तव्याः । यथा न निष्पन्ने कार्ये कश्चिज्जन्यजनकभावो नाम दृष्टोऽस्ति । कारणपूर्विका तु कार्यप्रवृत्तिरतो वास्तव एव । तद्वन्न निवृत्ते वस्तुनि कश्चिदिष्टो नाम विरोधोऽस्ति । दहननिमित्तं तु शीतस्पर्शस्य क्षणान्तरासामर्थ्यमतो विरोधोऽपि वास्तव एव ।

उदाहरणमाह ।

शीतोष्णस्पर्शवत् ।

शीतश्चोष्णश्च तावेव स्पर्शौ तयोरिव । शीतोष्णस्पर्शयोर्हि पूर्ववद्विरोधो योजनीयः ।

द्वितीयमपि विरोधं दर्शयितुमाह ।

परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया वा भाववत् ।

---

१ तद्दिग्वर्तिनः, क० तन्निवर्त्तिनः ।

२ अन्धकाराक्रान्तायां, क० अन्धकारायाक्रान्तायां ।

३ हेतुकं, ख० हेतुत्वकृत ।

४ भवता, क०ख० भवतः ।

परस्परपरिहारः परित्यागस्तेन स्थितं लक्षणं रूपं ययोस्तद्भावः परस्परपरिहारस्थितलक्षणता तया। इह यस्मिन्परिच्छिद्यमाने यद्व्यवच्छिद्यते तत्परिच्छिद्यमानमवच्छिद्यमानपरिहारेण स्थितरूपं द्रष्टव्यम्। नीले च परिच्छिद्यमाने तादूप्यप्रच्युतिरवच्छिद्यते तदव्यवच्छेदे नीलापरिच्छेदप्रसङ्गात्। तस्माद्वस्तुनो भावाभावौ परस्परपरिहारेण स्थितरूपौ। नीलात्तु यदन्यद्रूपं तन्नीलाभावाव्यभिचारि। नीलस्य दृश्यस्य पीतादावुपलभ्यमानेऽनुपलम्भादभावनिश्चयात्। यथा च नीलमभावं परिहरति तद्वदभावाव्यभिचारि पीतादिकमपि। तथा च भावाभावयोः साक्षाद्विरोधौ[1] वस्तुनोस्त्वन्ये न्याभावाव्यभिचारित्वाद्विरोधः। कस्य[2] चान्यत्राभावावसायो यो नियताकारोऽर्थस्तस्य। न त्वनियताकारोऽर्थः क्षणिकत्वादिवत्। क्षणिकत्वं हि सर्वेषां नीलादीनां स्वरूपात्मकम्। अतो न नियताकारम्। यतः क्षणिकत्वपरिहारेण न किंचिद्दृश्यते। यद्येवमभावोऽपि न नियताकारः। कथं न। नियताकारो नाम यावता वस्तुरूपविविक्ताकारः कल्पितोऽभावः। ततो दृष्टं कल्पितं वा नियतं रूपमन्यत्रासदवसीयते नानियतम्। एवं नित्यत्वे[3] पिशाचादिरपि नियताकारः कल्पितो द्रष्टव्यः। एकात्मकत्वविरोधश्चायम्। ययोर्हि परस्परपरिहारेणावस्थानं[4] तयोरेकत्वाभावः। अतएव लाक्षणिकोऽयं विरोध उच्यते। लक्षणं रूपं वस्तूनां प्रयोजनमस्येति कृत्वा। विरोधेन ह्यनेन वस्तुतत्त्वं[5] विभक्तं व्यवस्थाप्यते। अतएव दृश्यमाने रूपे यन्निषिध्यते तद्दृश्यमेवाभ्युपगम्य निषिध्यते। तथा हि। अभावोऽपि पिशाचोऽपि यदा पीते निषेद्धुमिष्यते

---

१ विरोधौ, ख० विरोधो। २ कः कस्य।
३ नित्यत्वे, ख० नित्यत्व। ४ परस्परपरिहारेण, ख० परस्परेण।
५ वस्तुतत्त्व, क० स्तुतत्त्वं।

तदा दृश्यात्मतया निषेध्य इति दृश्यत्वमभ्युपगम्य दृश्यानुपलब्धेरेव निषेधः। तथा च सति रूपे परिच्छिद्यमान एकस्मिंस्तदभावो दृश्यो व्यवच्छिद्यते। ततः स्वप्रच्युतिवत्प्रच्युतिमन्तोऽपि व्यवच्छिन्ना इति ये परस्परपरिहारस्थितरूपाः सर्वे तेऽनेन निषिद्धैकत्वा इति सत्यपि चास्मिन्विरोधे सहावस्थानं स्यादपि। ततो भिन्नव्यापारौ विरोधौ। एकेन विरोधेन शीतोष्णस्पर्शयोरेकत्वं वार्यते। अन्येन सहावस्थानं भिन्नप्रवृत्तिविषयौ च।सकले वस्तुन्यवस्तुनि च परस्परपरिहारविरोधः। वस्तुन्येव कतिपये सहानवस्थानविरोधः। तस्माद्भिन्नव्यापारौ भिन्नविषयौ च। ततो नानयोरन्योन्यान्तर्भाव इति।

स च द्विविधोऽपि विरोधो वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्न संभवति।

स चायं द्विविधोऽपि विरोधो वक्तृत्वं च सर्वज्ञत्वं च तयोर्न संभवति न ह्यविकलकारणस्य सर्वज्ञत्वस्य वक्तृत्वभावादभावगतिः। सर्वज्ञत्वं ह्यदृश्यम्। अदृष्टस्य चाभावो नावगम्यते। ततो नानेन विरोधगतिर्भवति। न च वक्तृत्वपरिहारेण सर्वज्ञत्वमवस्थितम्। काष्ठादयोऽपि वक्तृत्वपरिहृतास्तेषामपि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। नापि सर्वज्ञत्वपरिहारेण वक्तृत्वम्। काष्ठादीनामपि वक्तृत्वप्रसङ्गात्। तत एवाविरोधाद्वक्तृत्वविधानेन सर्वज्ञत्वनिषेधः।

स्यादेतत्। यदि नास्त्येव विरोधो घटपटयोरिव। स्यादपि तयोः सहावस्थितिदर्शनम्। अदर्शनात्तु विरोधगतिः। विरोधाद्वाभावगतिरित्याशंकयाह—

---

१ 'प्रवृत्ति' इति पाठः ख० पुस्तके नोपलभ्यते।

२ सहानवस्थान०, ख० सहावस्थानं।

३ द्विविधः, क० द्विरोधः।

४ 'च' इति पदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते।

न चाविरुद्धविधेरनुपलब्धावप्यभावगतिः । रागादीनां वचनादेश्च कार्यकारणभावासिद्धेः ।

न चाविरुद्धविधेरिति । अनुपलब्धावपि नायं विरुद्धविधिः । यद्यपि च सहावस्थानानुपलम्भस्तथापि न तयोर्विरोधो यस्मान्न सहानुपलम्भमात्राद्विरोधोऽपि तु द्वयोरुपलभ्यमानयोर्निवर्त्यनिवर्तकभावावसायात् । तस्मादनुपलब्धावपि न वक्तृत्वविरोधिविरुद्धविधिः । अतोऽस्मान्नान्यस्याभावगतिस्तथा न वक्तृत्वाद्रागादिमत्त्वगतिः । यतो यदि वचनादि रागादीनां कार्यं स्याद्वचनादे रागादिगतिः स्याद्रागादिनिवृत्तौ वचनादिनिवृत्तिः स्यात् । न च कार्यम् । कुतः । रागादीनां वचनादेश्च कार्यकारणभावस्यासिद्धेः । कारणान्न कार्यमतोऽस्मान्न गतिः ।

माभूद्रागादिकार्यं वचनम् । सहचारि तु भवति । ततो रागादौ सहचारिणि निवृत्ते निवर्तते वचनमित्याशङ्क्याह—

अर्थान्तरस्य वा कारणस्य निवृत्तौ न वचनादेर्निवृत्तिरिति संदिग्धव्यतिरेकोऽनैकान्तिको वचनादिः ।

अर्थान्तरस्य वा कारणस्य निवृत्तौ सहचारित्वदर्शनमात्रेण नान्यस्य वचनादेर्निवृत्तिः । अतो वक्तृत्वं भवेद्रागादिविरहश्चेति । इति शब्दस्तस्मादर्थे । तस्मादसर्वज्ञत्वविपर्ययाद्विपक्षात्सर्वज्ञत्वाद्रागादिमत्त्वविपर्ययादरागादिमत्त्वात्संदिग्धो व्यतिरेको वचनादेः । अतोऽनैकान्तिको वचनादिः ।

---

१ निवर्त्य०, क० निर्वर्त्य० ।

२ वचनादि०, ख० वचन० ।

३ 'तस्मादसर्वज्ञत्वविपर्ययाद्विपक्षात्' आदि, ख० 'तस्मादसर्वज्ञत्वावीतरागत्वविपर्ययात (अशुद्धः) तिपक्षात्सर्वज्ञत्वावीतरागादिमत्त्वात्संदिग्ध.' आदि ।

एवमेकैकरूपादिसिद्धिसंदेहे हेतुदोषानाख्याय द्वयोर्द्वयोरूपयोरसिद्धिसंदेहे हेतुदोषान्वक्तुकाम आह ।

द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ विरुद्धः ।

द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ सत्यां विरुद्धः ।

त्रीणि च रूपाणि सन्ति ततो विशेषज्ञापनार्थमाह—

कयोर्द्वयोः सपक्षे सत्वस्यासपक्षे चासत्त्वस्य यथा कृतकत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं च नित्यत्वे साध्ये विरुद्धो हेत्वाभासः ।

कयोर्द्वयोरिति । विशिष्टे रूपे दर्शयति । सपक्षे सत्त्वस्यासपक्षे चासत्त्वस्य विपर्ययसिद्धाविति सम्बन्धः । कृतकत्वमिति स्वभावहेतुः । प्रयत्नानन्तरीयकत्वमिति कार्यहेतोः । प्रयत्नानन्तरीयकशब्देन हि प्रयत्नानन्तरं जन्मज्ञानं च प्रयत्नानन्तरीयकमुच्यते । जन्म जायमानस्य स्वभावः । ज्ञानं ज्ञेयस्य कार्यम् । तदिह प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं गृह्यते । तेन कार्यहेतुः । एतौ हेतू नित्यत्वे साध्ये विरुद्धौ हेत्वाभासौ ।

कस्मात्पुनरेतौ विरुद्धावित्याह—

अनयोः सपक्षेऽसत्त्वमसपक्षे च सत्त्वमिति-
विपर्ययसिद्धिः ।

अनयोरिति । सपक्षे नित्ये कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोरसत्त्वमेव निश्चितम् । अनित्ये पिपक्ष एव सत्त्वं निश्चितमिति विपर्ययासिद्धिः ।

कस्मात्पुनर्विपर्ययसिद्धावप्येतौ विरुद्धावित्याह—

एतौ च साध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धौ ।

एतौ च साध्यस्य नित्यत्वस्य विपर्ययमनित्यत्वं साधयतः साध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धौ ।

यदि साध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धावेतावुक्तं न परार्थानुमाने साध्यं न त्वनुक्तम् । इष्टं चानुक्तमतोऽन्य इष्टविघातकृदाभ्यामिति दर्शयन्नाह—

तत्र च तृतीयोऽपीष्टविघातकृद्विरुद्धः ।

ननु च तृतीयोऽपि विरुद्ध उक्तः । उक्तविपर्ययसाधनौ द्वौ तृतीयोऽयमिष्टस्य शब्देनानुपात्तस्य विधानं करोति विपर्ययसाधनादिति । इष्टविघातकृत् ।

तमुदाहरति—

यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनाशनाद्यङ्गवदिति ।

यथेति । चक्षुरादय इति धर्मी । परोऽर्थः प्रयोजनं संस्कार्य उपकर्तव्यो येषां ते परार्था इति साध्यम् । संघातत्वात्संचितरूपत्वादिति हेतुः । चक्षुरादयो हि परमाणुसंचितरूपाः।ततः संघातरूपा उच्यन्ते । शयनमासनं चादिर्यस्य तच्छयनासनादि । तदेवाङ्गं पुरुषोपभोगाङ्गत्वात् । अयं व्याप्तिप्रदर्शनविषयो दृष्टान्तः । अत्र हि पारार्थ्येन संहतत्वं व्याप्तम् । यतः शयनासनादयः संघातरूपाः पुरुषस्य योगिने भवन्त्युपकारका इति परार्था उच्यन्ते ।

कथमयमिष्टविघातकृदित्याह ।

तदिष्टासंहतपारार्थ्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धः

तदिष्टासंहतपारार्थ्यविपर्ययसाधनादिति । असंहते विषये पारार्थ्यमसंहतपारार्थ्यम् । तस्य सांख्यस्य वादिन इष्टमसंहतपारार्थ्यं तदिष्टसंहतपारार्थ्यं तस्य विपर्ययः । संहतपारार्थ्यं नाम तस्य साधनाद्विरुद्धः । आत्मास्तीति ब्रुवाणः सांख्यः । कुत एतदिति पर्यनुयुक्तो बौद्धेनेदमात्मनः सिद्धये प्रमाणमाह । तस्मादसंहतस्यात्मन उपकारकत्वं साध्यं चक्षुरादीनाम् । अयं

तु हेतुविपर्ययव्याप्तः । यस्माद्यो यस्योपकारकः स तस्य जनकः । जन्यमानश्च युगपत्क्रमेण वा भवति संहतः । तस्मात्परार्थाश्चक्षुरादय इति संहतपरार्था इति सिद्धम् ।

स इह कस्मान्नोक्तः ।

अयं च विरुद्ध आचार्यदिग्नागेनोक्तः । स कस्माद्वार्तिककारेण सता त्वया नोक्तः ।

इतर आह—

अनयोरेवान्तर्भावात् ।

अनयोरेव साध्यविपर्ययसाधनयोरन्तर्भावात् ।

ननु चोक्तविपर्ययं न साधयति तत्कथमुक्तविपर्ययसाधनयोरेवान्तर्भाव इत्याह ।

न ह्ययमाभ्यां साध्यविपर्ययसाधनत्वेन भिद्यते ।

नह्ययमिति । हीति यस्मादर्थे । यस्मादयमिष्टविघातकृदाभ्यां हेतुभ्यां साध्यविपर्ययसाधनत्वेन न भिद्यते । यथा तौ साध्यविपर्ययसाधनौ तथायमप्युक्तविपर्ययं तु साधयतु वा मा वा किमुक्तविपर्ययसाधनेन । तस्मादनयोरेवान्तर्भावः ।

ननु चोक्तमेव साध्यं तत्कथं साध्यविपर्ययसाधनत्वेनाभेद इत्याह —

नहीष्टोक्तयोः साध्यत्वेन कश्चिद्विशेष इति द्वयो रूपयोरेकस्यासिद्धावपरस्य च संदेहेऽनैकान्तिकः ।

नहीति । यस्मादिष्टोक्तयोः परस्परस्य[1] साध्यत्वेन न कश्चिद्विशेषे भेद इति । तस्मादनयोरेवान्तर्भावः इत्युपसंहारः । प्रतिवादिनो हि यज्जिज्ञासितं तत्प्रकरणापन्नम् । यच्च प्रकरणापन्नं तत्साधनेच्छया विपर्यीकृतम् । साध्यमिष्टमुक्तमनुक्तं वा ।

१ परस्परस्य, क० परस्परस्मात् ।

ननूक्तमात्रमेव साध्यं तेनाविशेष इति। द्वयो रूपयोरसिद्धौ विरुद्ध उक्तः। अनयोर्द्वयोर्मध्य एकस्यासिद्धावपरस्य च संदेहेऽनैकान्तिकः। कीदृशोऽसावित्याह—

यथा वीतरागः कश्चित्सर्वज्ञो वा वक्तृत्वादिति। व्यतिरेकोऽत्रासिद्धः। संदिग्धोऽन्वयः।

यथेति। विगतो रागो यस्य स वीतराग इत्येकं साध्यम्। सर्वज्ञो वेति द्वितीयम्। वक्तृत्वादिति हेतुः। व्यतिरेकोऽत्रासिद्धः इति स्वात्मन्येव सरागे चासर्वज्ञे च विपक्षे वक्तृत्वं दृष्टम्। अतोऽसिद्धो व्यतिरेकः।

संदिग्धोऽन्वयः कुत इत्याह—

सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकर्षाद्वचनादेस्तत्र सत्त्वमसत्त्वं वा संदिग्धमनयोरेव द्वयो रूपयोः संदेहेऽनैकान्तिकः।

सपक्षभूतयोः सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकर्षादित्यतीन्द्रियत्वाद्वचनादेरिन्द्रियगम्यस्यापि। तत्रातीन्द्रिययोः सर्वज्ञत्ववीतरागयोः सत्त्वमसत्त्वं वा संदिग्धम्। ततश्च न ज्ञायते किं वक्तृत्वात्सर्वज्ञ उत नेत्यनैकान्तिक इति।

संप्रति द्वयोरेव संदेहेऽनैकान्तिकं वक्तुमाह। अनयोरेवान्वयव्यतिरेकरूपयोः संदेहात्संशयहेतुः।

उदाहरणम्—

सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति।

सहात्मना वर्तते सात्मकमिति साध्यम्। शरीरमिति धर्मी। जीवद्ग्रहणं धर्मिविशेषणम्। मृते ह्यात्मानं नेच्छति। प्राणा आश्वासादय आदिर्यस्योन्मेषनिमेषादेः प्राणिधर्मस्य स प्राणादिः।

१४

स यस्यास्ति तत्प्राणादिमज्जीवच्छरीरम् । तस्य भावस्तत्त्वम् । तस्मादित्येष हेतुः । अयमसाधारणः संशयहेतुरुपपादयितव्यः । पक्षधर्मस्य द्वाभ्यां कारणाभ्यां संशयहेतुत्वम् । संशयविषयौ यावाकारौ ताभ्यां सर्वस्य वस्तुनः संग्रहात् । तयोश्च व्यापकयोराकारयोरेकत्रापि वृत्त्यनिश्चयाद्यकाभ्यां ह्याकाराभ्यां सर्वं वस्तु न संगृह्यते । तयोराकारयोर्न संशयः । प्रकारान्तरसम्भवे हि पक्षधर्मो धर्मिणमवियुक्तं द्वयोरेकेन धर्मेण दर्शयितुं न शक्नुयादतो न संशयहेतुः स्यात् । द्वयोर्धर्मयोरनियतं भावं दर्शयन्संशयहेतुर्द्वयोस्त्वनियतमपि भावं दर्शयितुमशक्तोऽप्रतिपत्तिहेतुर्नियतं भावं दर्शयन्हेतुर्विरुद्धो वा स्यात्तस्माद्यकाभ्यां सर्वं वस्तु संगृह्यते तयोः संशयहेतुर्यदि तयोरेकत्रापि सद्भावनिश्चयो न स्यात् । सद्भावनिश्चये तु यद्येकत्र नियमसत्तानिश्चयो विरुद्धो हेतुर्वा स्यात् । अनियतसत्तानिश्चये तु साधारणानैकान्तिकः । संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः संदिग्धान्वयोऽसिद्धव्यतिरेको वा स्यात् । एकत्रापि तु वृत्त्यनिश्चयादसाधारणानैकान्तिको भवति ।

ततोऽसाधारणानैकान्तिकस्यानैकान्तिकत्वे हेतुद्वयं दर्शयितुमाह—

न हि सात्मकनिरात्मकाभ्यामन्यो राशिरस्ति । यत्र प्राणादिर्वर्तेते ।

न हीति । सहात्मना वर्तते सात्मकः । निष्क्रान्त आत्मा यस्मात्स निरात्मकः । ताभ्यां यस्मान्नान्यो राशिरस्ति । किंभूतो यत्रायं वस्तुधर्मः प्राणादिर्वर्तते । तस्मादयं तयोर्भवति संशयहेतुः ।

---

१ यकाभ्यां, क० याभ्यां ।

२ साधारणानैकान्तिकः, क० साधारणानैकान्तिक० ।

३ ०व्यावृत्तिकः, क० व्यावृत्तिकः २ ।

कस्मादन्यराश्यभाव इत्याह ।

आत्मनो वृत्तिव्यवच्छेदाभ्यां सर्वसंग्रहात् ।

आत्मनो वृत्तिः सद्भावो व्यवच्छेदोऽभावस्ताभ्यां सर्वस्य वस्तुनः संग्रहात्क्रोडीकरणात् । यत्र ह्यात्मास्ति तत्सात्मकम् । तदन्यन्निरात्मकम् । ततो नान्यो राशिरस्ति संशयहेतुत्व-कारणम् ।

प्रकाराभ्यां सर्वसंग्रहं प्रतिपाद्य द्वितीयमाह ।

नाप्यनयोरेकत्र वृत्तिनिश्चयः ।

नाप्यनयोः सात्मकानात्मकयोर्मध्य एकत्र सात्मकेऽनात्मके वा वृत्तेः सद्भावस्य निश्चयोऽस्ति । द्वावपि राशी त्यक्त्वा न वर्तते प्राणादिर्वस्तुधर्मत्वात् । ततश्चानयोरेव वर्तत इत्येतावदेव ज्ञातम् । विशेषे तु वृत्तिनिश्चयो नास्तीत्ययमर्थः ।

तदाह—

सात्मकत्वेन निरात्मकत्वेन वा प्रसिद्धे प्राणादेरसिद्धिः ।

सात्मकत्वेनानात्मकत्वेन वा विशेषणयुक्ते प्रसिद्धे निश्चिते वस्तुनि प्राणादेर्धर्मस्यासिद्धेरनैकान्तिकोऽनिश्चितत्वात् । तदेवमसाधारणस्य धर्मस्यानैकान्तिकत्वे कारणद्वयमभिहितम् । पक्षधर्मश्च भवन्सर्वः[1] साधारणोऽसाधारणो वा भवत्यनैकान्तिकः ।

तस्मादुपसंहारव्याजेन पक्षधर्मत्वं दर्शयति—

तस्माज्जीवच्छरीरसम्बन्धी प्राणादिः ।

तस्मादित्यादिना जीवच्छरीरस्य सम्बन्धी पक्षधर्म इत्यर्थः । यस्मात्तयोरेकत्रापि न निवृत्तिनिश्चयस्तस्मात्ताभ्यां न व्यतिरिच्यते ।

---

१ भवन्सर्वः, क० भवत् सर्वः ।

वस्तुधर्मो हि सर्ववस्तुव्यापिनोः प्रकारयोरेकत्रनियतस-द्भावो निश्चितः प्रकारान्तराश्रिवर्तेत । तत एवाह—

सात्मकादनात्मकाच्च सर्वस्माद्व्यावृत्तत्वेनासिद्धेः ।

सात्मकादनात्मकाच सर्वस्माद्वस्तुनो व्यावृत्तत्वेनासिद्धेरि-ति । प्राणादिस्तावत्कुतश्चिद्घटादेर्निवृत्त एव । ततः एतावदवसातुं शक्यं सात्मकादनात्मकाद्वा कियतो निवृत्तः । सर्वस्मात्तु निवृ-त्तो नावसीयते । ततो न कुतश्चिद्व्यतिरेकः ।

यद्येवमन्वयोऽस्तु तयोर्निश्चित इत्याह—

ताभ्यां न व्यतिरिच्यते न तत्रान्वेति ।

न तत्र सात्मकेऽनात्मके वार्थेऽन्वेत्यन्वयवान्प्राणादिः । कुत इत्याह—

एकात्मन्यप्यसिद्धेः ।

एकात्मनि सात्मकेऽनात्मके वासिद्धेः कारणात् । वस्तु-धर्मतया तयोर्द्वयोरेकत्र वा वर्तते इत्यवसितः प्राणादिर्न तु सा-त्मक एव निरात्मक एव वा वर्तत इति कुतोऽन्वयनिश्चयः ।

ननु न प्रतिवादिनो न किंचित्सात्मकमस्ति । ततोऽस्य हेतोर्न सात्मकेऽन्वयो न व्यतिरेक इत्यन्वयव्यतिरेकयोरभावनि-श्चयः । सात्मके न तु सद्भावसंशय इत्याह—

नापि सात्मकान्निरात्मकाच्च तस्यान्वयव्यतिरे-कयोरभावनिश्चयः ।

नापि सात्मकाद्वस्तुनस्तस्य प्राणादेरन्वयव्यतिरेकयोरभा-वनिश्चयः । नापि च निरात्मकात् । सात्मकादनात्मकादिति च पञ्चमी व्यतिरेकशब्दापेक्षया द्रष्टव्या ।

कथमन्वयव्यतिरेकयोर्नाभावनिश्चय इत्याह—

एकाभावनिश्चयस्यापराभावनान्तरीयकत्वात् ।

एकस्यान्वयस्य व्यतिरेकस्य वा योऽभावनिश्चयः सोऽपरस्य द्वितीयस्य भावे निश्चयनान्तरीयको भवति । निश्चयस्याव्यभिचारी तस्य भावस्तत्त्वम् । तस्माद्यत एकाभावनिश्चयोऽपरभावनिश्चयनान्तरीयकस्तस्मान्न द्वयोरेकत्राभावनिश्चयः।

कस्मात्पुनरेकस्याभावनिश्चयोऽपरसद्भावनिश्चयाव्यभिचारीत्याह—

अन्वयव्यतिरेकयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वात् ।

अन्वयव्यतिरेकयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वादिति । अन्योन्यस्य व्यवच्छेदोऽभावः स एव रूपं ययोस्तयोर्भावस्तत्त्वं तस्मात्कारणात् । अन्वयव्यतिरेकौ भावाभावौ । भावाभावौ च परस्परव्यवच्छेदरूपौ । यस्य व्यवच्छेदेन यत्परिछिद्यते तत्तत्परिहारेण व्यवस्थितम् । स्वभावव्यवच्छेदेन च भावः परिच्छिद्यते । तस्मात्स्वाभावव्यवच्छेदेन भावो व्यवस्थितः । अभावो हि नीरूपो यादृशो विकल्पेन दर्शितः । नीरूपतां च व्यवच्छिद्य रूपमाकारवत्परिछिद्यते । तथा च सत्यन्वयाभावो व्यतिरेको व्यतिरेकाभावश्चान्वयः । ततोऽन्वयाभावे निश्चिते व्यतिरेको निश्चितो भवति । व्यतिरेकाभावे च निश्चितेऽन्वयो निश्चितो भवति । तस्माद्यदि नाम सात्मकमवस्तु निरात्मकं च वस्तु तथापि न तयोः प्राणादेरन्वयव्यतिरेकयोरभावनिश्चयः । एकवस्तुन्येकवस्तुनो युगपद्भावाभावविरोधात् । तयोरभावनिश्चयायोगात् । न च प्रतिवाद्यनुरोधात्सात्मकानात्मके वस्तुनी सदसती किं तु

---

१ 'निश्चयन' इति पाठः क० पुस्तके नोपलभ्यते ।

२ निश्चयायोगात्, ख० निश्चययोगात् ।

प्रमाणानुरोधादित्युभे संदिग्धे । ततस्तयोः प्राणादिमत्त्वस्य सदसत्त्वसंशयः ।

अत एवान्वयव्यतिरेकयोः सन्देहादनैकान्तिकः ।

यत एव क्वचिदन्वयव्यतिरेकयोर्न भावनिश्चयो नाप्यभावनिश्चयस्तत एवान्वयव्यतिरेकयोः संदेहः । यदि तु क्वचिदप्यन्वयव्यतिरेकयोरेकस्याप्यभावनिश्चयः स्यात्स एव द्वितीयस्य भावनिश्चय इत्यन्वयव्यतिरेकसंदेह एव न स्यात् । यतश्च न क्वचिद्भावाभावनिश्चयस्तत एवान्वयव्यतिरेकयोः संदेहः । संदेहाच्चानैकान्तिकः—

कस्मादनैकान्तिकः—

साध्येतरयोरतो निश्चयाभावात् ।

साध्यस्येतरस्य च विरुद्धस्यातः संदिग्धान्वयव्यतिरेकान्निश्चयाभावात् । सपक्षविपक्षयोर्हि सपदत्त्वसंदेहेन साध्यस्य न विरुद्धस्य सिद्धिः । न च सात्मकानात्मकाभ्यां च परः प्रकारः संभवति । ततः प्राणादिमत्त्वाद्धर्मिणि जीवच्छरीरे संशयः । आत्मभावाभावयोरित्यनैकान्तिकः प्राणादिरिति ।

त्रयाणां रूपाणामसिद्धौ संदेहे च हेतुदोषानुपपाद्योपसंहरन्नाह—

एवं त्रयाणां रूपाणामेकैकस्य द्वयोर्द्वयोर्वा रूपयोरसिद्धौ संदेहे च यथायोगमसिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ।

---

१ प्राणादि० क० प्रमाणादि० ।

२ ख० पुस्तके 'साध्यस्ये योर्हि' लिखित्वा पंक्तिरेका परित्यक्ता ।

३ सिद्धिः, ख० असिद्धिः ।

एवमित्यनन्तरोक्तेन क्रमेणैषां मध्य एकैकं रूपं यदसिद्धं संदिग्धं वा[1] भवति । द्वे द्वे वासिद्धे संदिग्धे वा[2] भवतः । तदासिद्धश्च विरुद्धश्चानैकान्तिकश्च ते हेत्वाभासाः । यथायोगमिति । यस्यासिद्धौ संदेहे वा यो हेत्वाभासो युज्यते स तस्यासिद्धेः संदेहाच्च व्यवस्थाप्यत इति यस्य यस्य येन[3] येन योगो यथायोगमिति ।

विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः । स इह कस्मान्नोक्तः ।

ननु चाचार्येण विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः । हेत्वन्तरसाधितस्य विरुद्धं[4] यत्तन्न व्यभिचरति स विरुद्धाव्यभिचारी । यदि वा विरुद्धश्चासौ साधनान्तरसिद्धस्य धर्मस्य विरुद्धसाधनादव्यभिचारी च स्वसाध्याव्यभिचाराद्विरुद्धाव्यभिचारी ।

सत्यमुक्त आचार्येण । मयात्विह नोक्तः । कस्मादित्याह—

अनुमानविषयेऽसंभवात् ।

अनुमानस्य विषयः प्रमाणसिद्धं त्रैरूप्यम् । यतो ह्यनुमानसद्भावः सोऽनुमानस्य विषयः । प्रमाणसिद्धाच्च त्रैरूप्यादनुमानसद्भावस्तस्मात्तदेवानुमानविषयः । तस्मिन्प्रक्रान्ते न विरुद्धाव्यभिचारिसंभवः । प्रमाणसिद्धो हि त्रैरूप्ये प्रस्तुते स एव हेत्वाभासः संभवति यस्य प्रमाणसिद्धं रूपम् । न च विरुद्धाव्यभिचारिणः प्रमाणसिद्धमस्तिरूपम् । अतो न संभवः । ततोऽसंभवो नोक्तः ।

---

१ पदमिदं ख० पुस्तके न विद्यते ।

२ पदमिदं ख० पुस्तके न विद्यते ।

३ पदमिदं क० पुस्तके नोपलभ्यते । ४ विरुद्धं यत्, चाविरुद्धं ।

कस्मादसंभव इत्याह–

न हि संभवोऽस्ति कार्यस्वभावयोरुक्तलक्षणयोरनुपलम्भस्य च विरुद्धतायाः। न चान्योऽव्यभिचारी।

न हीति। यस्माच्च संभवोऽस्ति विरुद्धतायाः। कार्यं च स्वभावश्च तयोरुक्तलक्षणयोरिति। कार्यस्य कारणाज्जन्मलक्षणं तत्त्वम्। स्वभावस्य च साध्यव्याप्तत्वं तत्त्वम्। यत्कार्यं यश्च स्वभावः स कथमात्मकारणं व्यापकं च स्वभावं परित्यज्य भवेद्येन विरुद्धः स्यात्। अनुपलम्भस्य चोक्तलक्षणस्येति। दृश्यानुपलम्भत्वमनुपलम्भलक्षणम्। तस्यापि च स्वभावाव्यभिचारित्वान्न विरुद्धत्वसंभवः स्यात्[1]। एतेभ्योऽन्यो भविष्यतीत्याह। न चान्य एतेभ्योऽव्यभिचारी त्रिभ्योऽत एव तेष्वेव हेतुत्वम्।

क तर्ह्याचार्यदिग्नागेनायं हेतुदोष उक्त इत्याह।

तस्मादवस्तुदर्शनबलप्रवृत्तमागमाश्रयमनुमानमाश्रित्य तदर्थविचारेषु विरुद्धाव्यभिचारी साधनदोष उक्तः।

यस्माद्वस्तुबलप्रवृत्तेऽनुमाने न संभवति तस्मादागमाश्रयमनुमानमाश्रित्य विरुद्धाव्यभिचार्युक्तः। आगमसिद्धं हि यस्यानुमानस्य लिङ्गत्रैरूप्यं तस्यागम आश्रयः।

ननु चागमसिद्धमपि त्रैरूप्यं प्रमाणसिद्धमित्याह। अवस्तुदर्शनबलप्रवृत्तमिति। अवस्तुनो दर्शनं विकल्पमात्रं तस्य बलं सामर्थ्यम्। ततः प्रवृत्तमप्रमाणाद्विकल्पमात्राद्व्यवस्थितं त्रैरूप्यमागमसिद्धमनुमानस्य। न तु प्रमाणात्।

१ स्यात्, ख० स्यादेति तत्।

तत्कथमनुमानेनागमसिद्धत्रैरूप्यं क्वाधिकृतमित्याह । तदर्थेति । तस्यागमस्य योऽर्थोऽतीन्द्रियः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामविषयीकृतः सामान्यादिस्तस्य विचारेषु प्रक्रान्तेष्वागमाश्रयमनुमानं संभवति । तदाश्रयो विरुद्धाव्यभिचार्युक्त आचार्येणेति ।

कस्मात्पुनरागमाश्रयेऽप्यनुमाने संभव इत्याह ।

शास्त्रकाराणामर्थेषु भ्रान्त्या विपरीतस्य स्वभावोपसंहारसंभवात् ।

शास्त्रकृतां विपरीतस्य वस्तुविरुद्धस्य स्वभावस्योपसंहारो ढौकनमर्थेषु तस्य संभवाद्विरुद्धाव्यभिचारिसंभवः । भ्रान्त्येति विपर्यासेन । विपर्यस्ता हि शास्त्रकाराः सन्तमसन्तं स्वभावमारोपयन्तीति ।

यदि शास्त्रकृतोऽपि भ्रान्ता अन्येष्वपि पुरुषेषु क आश्वास इत्याह—

न ह्यस्य संभवो यथावस्थितवस्तुस्थितिष्वात्मकार्यानुपलम्भेषु ।

नहीति । न हेतुषु कल्पनया हेतुत्वव्यवस्थापि तु वस्तुस्थित्या । ततो यथावस्थितवस्तुस्थितिष्वात्मकार्यानुपलम्भेष्वस्य संभवो नास्ति । अवस्थितं परमार्थसद्वस्तु तदनतिक्रान्ता यथावस्थिता वस्तुस्थितिर्व्यवस्था येषां ते यथावस्थितवस्तुस्थितयः । ते हि यथावस्तुस्थितं तथास्थिता न कल्पनयातस्तेषु न भ्रान्तेरवकाशोऽस्ति येन विरुद्धाव्यभिचारिसंभवः स्यात् ।

तत्र विरुद्धाव्यभिचारिण्युदाहरणम्—

तत्रोदाहरणं यत्सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिः

---

१ पाठोऽयं क० पुस्तके नोपलभ्यते । २ क० आगमाश्रयो ।

संबध्यते तत्सर्वगतं यथाकाशमभिसंबध्यते सर्वदेशावस्थितैः स्वसंम्बन्धिभिर्युगपत्सामान्यमिति ।

यत्सर्वस्मिन्देशेऽवस्थितैः स्वसंबन्धिभिर्युगपदभिसंबध्यते तत्सर्वदेशावस्थितैरभिसंबध्यमानत्वं सामान्यस्यानूद्य सर्वगतत्वं विधीयते । तेन युगपदभिसंबध्यमानत्वं सर्वगतत्वे नियतं तेन व्याप्तं कथ्यते । इह सामान्यं कणादमहर्षिणा निष्क्रियं द्रव्यमेकं[1] चोक्तम् । युगपच्च सर्वैः स्वैः स्वैः सम्बन्धिभिः[2] समवायेन संबद्धम् । तत्र पैलुकेन कणादशिष्येण व्यक्तिषु व्यक्तिरहितेषु च[3] देशेषु सामान्यं स्थितं साधयितुं प्रमाणमिदमुपन्यस्तम् । यथाकाशमिति । व्याप्तिप्रदर्शनविषयो दृष्टान्तः । आकाशमपि हि सर्वदेशावस्थितैर्वृक्षादिभिः स्वसंयोगिभिर्युगपदभिसंबध्यमानं सर्वगतं चाभिसम्बध्यते च सर्वदेशावस्थितैः स्वसंबन्धिभिरितिहेतोः पक्षधर्मत्वप्रदर्शनम्—

अस्य स्वभावहेतुत्वं प्रयोजयितुमाह —

तत्संबन्धिस्वभावमात्रानुबन्धिनी तद्देशसंनिहितस्वभावता ।

तत्संबन्धीति । तेषां सर्वदेशावस्थितानां द्रव्याणां संबन्धी सामान्यस्य स्वभावः स एव तत्सबन्धिस्वभावमात्रम् । तदनुबध्नातीति तदनुबन्धिनी । कासावित्याह । तद्देशसंनिहितस्वभावता । तेषां संबन्धिनां देशस्तद्देशस्तद्देशे संनिहितः स्वभावो यस्य तत्तद्देशसंनिहितस्वभावं तस्य भावस्तत्ता । यस्य हि येषां संबन्धी स्वभावस्तन्नियमेन तेषां देशे संनिहितं भवति । तत-

---

१ एकं, ख० एव ।

२ संबन्धिभिः, ख० स्वसम्बन्धिभिः ।

३ च, ख० वा ।

स्तत्संबन्धित्वानुबन्धिनी तद्देशसंनिहितता सामान्यस्य ।

ननु च गवां संबन्धी स्वामी । न च तद्देशे संनिहितस्वभावः स्वामी । तत्कथं संबन्धित्वात्तद्देशत्वमित्याह –

न हि यो यत्र नास्ति स तद्देशमात्मना व्याप्नोतीति स्वभावहेतुप्रयोगः ।

न हीति । यो यत्र देशे नास्ति स देशो यस्य स तद्देशस्तं न व्याप्नोत्यात्मना स्वरूपेण । इह सामान्यस्य तद्वतां च समवायलक्षणः[1] संबन्धः । स चाभिन्नदेशयोरेव । तेन[2] यत्र यत्समवेतं तत्तदात्मीयेन रूपेण क्रोडीकुर्वत्समवायिरूपदेशे स्वात्मानं निवेशयति । तद्देशरूपनिवेशनमेव तत्क्रोडीकरणम्[3] । ततस्तत्समवायः । तस्माद्यद्यत्र समवेतं तत्तद्द्रव्यं व्याप्नुवदात्मना तद्देशे संनिहितं भवति । तदयमर्थः । तद्देशस्थवस्तु व्यापनं तद्देशसत्तया व्याप्तम् । तद्देशसत्ताभावे[4] तद्व्यापनाभावाद्व्यापनलक्षणः समवायसंबन्धो न स्यात् । अस्ति च व्यापनम् । अतस्तद्देशे संनिहितत्वमिति । तदयं स्वभावहेतुः ।

पैठरप्रयोगं दर्शयन्नाह —

द्वितीयोऽपि प्रयोगो यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते न तत्तत्रास्ति । तद्यथा-क्वचिदविद्यमानो घटः ।

द्वितीयोऽपीति । यदुपलब्धेर्लक्षणतां विषयतां प्राप्तं दृश्यमित्यर्थः । एतेन दृश्यानुपलब्धिमनूद्य तत्तत्रास्तीत्यसद्व्यवहा-

१ समवायलक्षणः, क० समवायलक्षण० ।
२ तेन, ख० अनेन ।
३ तत्क्रोडी० ख० न क्रोडी० ।
४ तद्देशसत्ताभावे, ख० तद्देशसत्ताया अभावे ।
५ तत्तत्र, क० ततत्तत्र ख० तत्तत्र ।

र्यत्वं विहितम् । ततो व्याप्यदृश्यानुपलब्धेर्व्यापकमसद्व्यवहार्यत्वं दर्शितम् । तत्रयथेति । कचिदमन्घटो दृष्टान्तः ।

पक्षधर्मत्वं दर्शयितुमाह—

नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेष्विति ।

नोपलभ्यते चेति । व्यक्तेरन्तरालं व्यक्त्यन्तरं च व्यक्तिशून्यं चाकाशं दृश्यमपि कस्यांचिद्व्यक्तौ गोसामान्यमश्वादिषु व्यक्त्यन्तरेषु व्यक्तिशून्ये चाकाशे चोपलभ्यते । तस्मान्न तेष्वस्तीति गम्यते ।

अयमनुपलम्भप्रयोगः स्वभावश्च परस्परविरुद्धार्थसाधनादेकत्र संशयं जनयतः ।

अयमनुपलम्भः पूर्वोक्तश्च स्वभावः परस्परविरुद्धौ यावर्थौ तयोः साधनात्तावेकस्मिन्धर्मिणि संशयं जनयतः । न ह्येकोऽर्थः परस्परविरुद्धस्वभावो भवितुमर्हति । एकेन चात्र व्यक्त्यन्तरेषु व्यक्तिशून्ये चाकाशे सत्त्वम् । अपरेण चानुपलम्भेनासत्त्वं साध्यते । न चैकस्यैकदैकत्र सत्त्वमसत्त्वं च युक्तं तयोर्विरोधात् । तदागम[3]सिद्धस्य सामान्यस्य सर्वगतत्वा[4]सर्वगतत्वयोः साध्ययोरेतौ विरुद्धाव्यभिचारिणौ जातौ । यतः सामान्यस्यैकस्य युगपत्सर्वदेशावस्थितैरभिसंबन्धि[5]त्वं चाभ्युपगतं दृश्यत्वं च । ततः सर्व-

---

१ व्यक्तिशून्ये, क० शून्ये ।

२ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते ।

३ तदागमसिद्धस्य, क० तदागममसि० (अशुद्ध.) ख० तस्मादागम० ।

४ सर्वगतत्वासर्वगतत्वयोः, ख० सर्वगतत्वयोः ।

५ अभिसंबन्धित्व, ख० अभिसंबद्धत्व ।

सम्बन्धित्वात्सर्वगतत्वं दृश्यत्वादन्तरालानुपलम्भादसर्वगतत्वं । ततः शास्त्रकारेणैव विरुद्धव्याप्तत्वमपश्यता विरुद्धव्याप्तौ धर्मावुक्त्वा विरुद्धाव्यभिचार्यवकाशो दत्त इति । न च वस्तुन्यस्य संभवः । इत्युक्ता हेत्वाभासाः ।

ननु च साधनावयवत्वाद्यथा हेतव उक्तास्तत्प्रसङ्गेन हेत्वाभासास्तथा साधनावयवत्वाद्दृष्टान्ता वक्तव्यास्तत्प्रसङ्गेन च दृष्टान्ताभासास्तत्कथं नोक्ता इत्याह–

त्रिरूपो हेतुरुक्तः ।

त्रिरूपो हेतुरुक्तस्तत्किं दृष्टान्तैः ।

स्यादेतत्तावता नार्थप्रतीतिरित्याह–

तावतैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग्दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित् ।

तावतैवेति । उक्तलक्षणेनैव हेतुना भवति साध्यप्रतीतिः । अतः स एव गमकस्तद्वचनमेव साधनम् । न दृष्टान्तो नाम साधनस्यावयवः । यतश्चायं नावयवस्तेन नास्य दृष्टान्तस्य लक्षणं हेतुलक्षणात्पृथगुच्यते । कथं तर्हि हेतोर्व्याप्तिनिश्चयो यद्दृष्टान्तको हेतुरिति चेत् । नोच्यते हेतुरदृष्टान्तक एवापि तु न हेतोः पृथग्दृष्टान्तो नाम । हेत्वन्तर्भूत एव दृष्टान्तः ।

तेन नास्य लक्षणं पृथगुच्यते ।

---

१ उक्त्वा विरुद्ध०, ख० उक्तौ । इह विरुद्ध० ।
२ न च वस्तुन्यस्य, ० न वस्तुन्यस्य हेतो ।
३ 'उक्तः' इति पदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते ।
४ तावतैवेति, क० तावता चेति ।
५ अतः, ख० ततः ।
६ तद्वचनं, ख० ततस्तद्वचनम् ।

अत एवोक्तं नास्य लक्षणं पृथगुच्यत इति। न त्वेवमुक्तं नास्य लक्षणमुच्यत इति।

यद्येवं हेतूपयोगिनोऽपि लक्षणं वक्तव्यमेवेत्याह।

गतार्थत्वात्।

गतार्थत्वात्। गतोऽर्थः प्रयोजनमभिधेयं वा यस्य दृष्टान्तलक्षणस्य तत्तथा तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्। दृष्टान्तलक्षणं ह्युच्यते दृष्टान्तप्रतीतिर्यथा स्यात्। दृष्टान्तश्च हेतुलक्षणादेवावसितः। ततो दृष्टान्तलक्षणस्य यत्प्रयोजनं दृष्टान्तप्रतीतिस्तद्गतं निष्पन्नमभिधेयं वा। गतं ज्ञानं दृष्टान्ताख्यम्।

कथं गतार्थत्वमित्याह–

हेतोः सपक्ष एव सत्त्वमसपक्षाच्च सर्वतो व्यावृत्तो रूपमुक्तमभेदेन पुनर्विशेषेण कार्यस्वभावयोर्जन्म तन्मात्रानुबन्धौ दर्शनीयावुक्तौ।

हेतो रूपमभेदेनोक्तं सामान्येन साधारणं कार्यस्वभावानुपलम्भानामेतल्लक्षणमित्यर्थः। किं पुनस्तत्सपक्ष एव यत्सत्त्वं विपक्षाच्च सर्वस्माद्व्यावृत्तिर्या रूपद्वयमेतदभेदेनोक्तम्। न च सामान्यमुक्तमपि शक्यं ज्ञातुम्। अतस्तदेव विशेषनिष्ठं वक्तव्यम्। अतः पुनरपि विशेषेण विशेषवन्तौ जन्मतन्मात्रानुबन्धौ दर्शनीयावुक्तौ। कार्यस्य जन्म ज्ञातव्यमुक्तम्। जन्मनि हि विज्ञाते कार्यस्य सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षाच्च सर्वस्माद्व्यावृत्तिर्ज्ञाता

१ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते।
२ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते।
३ पदमिदं क० पुस्तके नोपलभ्यते।
४ अभेदेनोक्त, ख० उक्तमभेदेन।
५ 'यत्' इति पदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते।
६ विज्ञाते, ख० ज्ञाते।

भवति। स्वभावस्य तन्मात्रानुबन्धो दर्शनीय उक्तः। तदिति साधनं तदेव तन्मात्रं साधनमात्र तस्यानुबन्धोऽनुगमनं साधनमात्रभावे भावः साध्यस्य। तन्मात्रभावित्वमेव हि साध्यस्य तादात्म्यम्। साधनस्य यदा स्वभावो ज्ञातो भवति तदा स्वभावहेतोः सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षाच्च सर्वस्माद्व्यावृत्तिर्ज्ञाता भवति। तदेवं सामान्यलक्षणं विशेषात्मकं ज्ञातव्यं नान्यथा। ततो विशेषलक्षणमुक्तम्।

किमतो यदि नामैवमित्याह—

तच्च दर्शयता यत्र धूमस्तत्राग्निरसत्यग्नौ न क्वचिद्धूमो यथा महानसेतरयोः।

तत्र सामान्यलक्षणे दर्शयितुकामेन विशेषलक्षणं दर्शयतैवं दर्शनीयमिति संबन्धः। यत्र धूमस्तत्राग्निरिति कार्यहेतोर्व्याप्तिर्दर्शिता। व्याप्तिश्च कार्यकारणभावसाधनात्प्रमाणान्निश्चीयते। ततो यथा महानस इति दर्शनीयम्। असत्यग्नौ न भवत्येव धूम इति व्यतिरेको दर्शितः। स च यथेतरस्मिन्निति दर्शनीयः। वह्निनिवृत्तिर्हि धूमनिवृत्तौ नियता दर्शनीया। सा च महानसादितरत्र दर्शनीया।

यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वमनित्यत्वाभावे कृतकत्वासंभवो यथा घटाकाशयोरिति दर्शनीयम्।

यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वमिति स्वभावहेतोर्व्याप्तिर्दर्शिता। अनित्यत्वाभावे न भवत्येव कृतकत्वमिति व्यतिरेको दर्शितः। व्याप्तेश्च साधकं प्रमाणं साधर्म्यदृष्टान्ते दर्शनीयम्। प्रसिद्धव्या-

१ तस्य, ख० साधनमात्रस्य।
२ एवं, ख० एवं च। ३ इतरत्र, क० इतरत्रेति।
४ साधर्म्य० ख० साधर्म्ये।

मिकस्य च हेतोः साध्यनिवृत्तौ निवृत्तिर्दर्शनीया। तदवश्यं यथा घटे यथाकाशे चेति दर्शनीयम्।

कस्मादेवमित्याह—

न ह्यन्यथा सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वे यथोक्तप्रकारे शक्ये दर्शयितुम्।

न हीति। यस्मादन्यथा सामान्यलक्षणरूपे सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वे यथोक्तप्रकारे इति नियते। सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षेऽसत्त्वमेवेति नियमो यथोक्तप्रकारः। तेन शक्ये दर्शयितुम्। विशेषलक्षणे हि दर्शिते यथोक्तप्रकारे सदसत्त्वे दर्शिते भवतः। न च विशेषलक्षणमन्यथा शक्यं दर्शयितुम्।

तत्कार्यतानियमः कार्यलिङ्गस्य स्वभावलिङ्गस्य च स्वभावेन व्याप्तिः।

तस्य साध्यस्य कार्यं तत्कार्यं धूमस्तस्य भावस्तत्कार्यता सैव नियमो यतस्तत्कार्यतया धूमो दाहेन नियतः सोऽयं तत्कार्यतानियमो विशेषलक्षणरूपोऽन्यथा दर्शयितुमशक्यः। स्वभावलिङ्गस्य च स्वभावेन साध्येन व्याप्तिर्विशेषलक्षणरूपा न शक्या दर्शयितुम्। यस्मात्कार्यकारणभावस्तादात्म्यं च महानसे घटे च ज्ञातव्यं तस्माद्व्याप्तिसाधनं प्रमाणं दर्शयता साधर्म्यदृष्टान्तो दर्शनीयः। वैधर्म्यदृष्टान्तस्तु प्रसिद्धे तत्कार्यत्वे कारणाभावे कार्याभावप्रतिपत्त्यर्थम्। तत एव नावश्यं वस्तु भवति। कारणाभावे कार्याभावो वस्तुन्यवस्तुनि वा भवति। ततो वस्त्ववस्तु वा वैधर्म्यदृष्टान्त इष्यते। तस्माद्दृष्टान्तव्यतिरेकेण[3]

१ सदसत्त्वे, क० सदसत्त्वं २।

२ साधर्म्य०, ख० साध्य०।

३ दृष्टान्तव्यतिरेकेण, ख० दृष्टान्तमन्तरेण।

हेतोरन्वयो व्यतिरेको वा न शक्यो दर्शयितुम्। अतो हेतुरूपाख्यानादेव हेतोर्व्याप्तिसाधनस्य प्रमाणस्य दर्शकः साधर्म्यदृष्टान्तः। प्रसिद्धव्याप्तिकस्य साध्याभावे हेत्वभावप्रदर्शनाद्वैधर्म्यदृष्टान्त उपादेय इति च दर्शितं भवति।

अस्मिंश्चार्थे दर्शिते दर्शित एव दृष्टान्तो भवति।

अस्मिंश्चार्थे दर्शिते दर्शित एव दृष्टान्तो भवति।

योऽयमर्थो व्याप्तिसाधनप्रमाणप्रदर्शिनः कश्चिदुपादेयो निवृत्तिप्रदर्शनश्चेत्यस्मिन्नर्थे प्रदर्शिते दर्शितो दृष्टान्त इत्याह—

एतावन्मात्ररूपत्वात्तस्येति।

एतावन्मात्रं रूपं यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादिति। एतावदेव हि रूपं दृष्टान्तस्य। यदुत व्याप्तिसाधनप्रमाणदर्शनत्वं नाम साधर्म्यदृष्टान्तस्य प्रसिद्धव्याप्तिकस्य वा साध्यनिवृत्तौ साधननिवृत्तिप्रदर्शकत्वमित्येतद्वैधर्म्यदृष्टान्तस्य। तच्च हेतुरूपाख्यानादेवाख्यातमिति किं दृष्टान्तलक्षणेन।

एतेनैव दृष्टान्तदोषा अपि निरस्ता भवन्ति।

एतेनैव च हेतुरूपाख्यानाद्दृष्टान्ततत्त्वप्रदर्शनेन दृष्टान्तस्य दोषा दृष्टान्ताभासा कथिता भवन्ति। तथाहि। पूर्वोक्तसिद्धये य उपादीयमानोऽपि दृष्टान्तो न समर्थः स्वकार्यं साधयितुं स दृष्टान्तदोष इति सामर्थ्यादुक्तं भवति।

---

१ हेतो ...... न, ख० न हेतो।

२ प्रदर्शनः, क० प्रदर्शिन, ख० दर्शकः।

३ प्रदर्शिते, ख० दर्शिते।

४ 'वैधर्म्यदृष्टान्तस्य तत्' इति पाठो ख० पुस्तके नोपलभ्यते।

५ दृष्टान्तस्य दोषा, क० पुस्तकस्य 'दोषा' मलिनत्वेन न पठ्यते। ख० दृष्टान्तदोषा। ६ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते।

७ उक्तं भवति, ख० इत्येतदुक्तं भवति।

दृष्टान्ताभासानुदाहरति—

यथा-नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात्।कर्मवत्परमाणुवद्धटवदिति।

यथेति। नित्यः शब्द इति। शब्दस्य नित्यत्वे साध्येऽमूर्तत्वादिति हेतुः। साधर्म्येण कर्मवत्परमाणुवद्धटवदित्येते दृष्टान्ता उपन्यस्ताः।

एते च दृष्टान्तदोषाः—

साध्यसाधनधर्मोभयविकलास्तथा संदिग्धसाध्यधर्मादयश्च।

साध्यं च साधनं चोभयं चेति तैर्विकलाः। साध्यविकलं कर्म तस्यानित्यत्वात्। साधनविकलः परमाणुर्मूर्तत्वात्परमाणूनाम्। असर्वगतं द्रव्यपरिमाणं मूर्तिः। असर्वगताश्च द्रव्यरूपाश्च परमाणवः। नित्यास्तु वैशेषिकैरिष्यन्ते। ततो न साध्यविकलः। घटस्तूभयविकलः। अनित्यत्वान्मूर्तत्वाच्च घटस्येति। तथा संदिग्धः साध्यधर्मो यस्मिन्स संदिग्धसाध्यधर्मः स आदिर्येषान्ते तथोक्ताः। संदिग्धसाध्यधर्मः। संदिग्धसाधनधर्मः। संदिग्धोभयः।

उदाहरणम्—

यथा रागादिमानयं वचनाद्रथ्यापुरुषवत्।

रागादिमानिति रागादिमत्त्वं साध्यम्। वचनादिति हेतुः। रथ्यापुरुषवदिति दृष्टान्तः। रागादिमत्त्व संदिग्धम्।

मरणधर्मोऽयं पुरुषो रागादिमत्त्वाद्रथ्यापुरुषवत्।

मरणं धर्मोऽस्येति मरणधर्मा तस्य भावो मरणधर्मत्वं साध्यम्। अयं पुरुष इति धर्मी। रागादिमत्त्वादिति हेतुः। रथ्यापुरुषे दृष्टान्ते संदिग्धं साधनं साध्यं तु निश्चितं मरणधर्मत्वमिति।

---

१ शब्दस्य नित्यत्वे साध्ये, ख० नित्यत्वे साध्ये शब्दस्य।

असर्वज्ञोऽयं रागादिमत्त्वाद्रथ्यापुरुषवदिति ।

असर्वज्ञ इति । असर्वज्ञत्वं साध्यम् । रागादिमत्त्वादिति हेतुः । तदुभयमपि रथ्यापुरुषे दृष्टान्ते संदिग्धम्। असर्वज्ञत्वं रागादिमत्त्वं चेति ।

अनन्वयोऽप्रदर्शितान्वयश्च ।

तथानन्वय इति । यस्मिन्दृष्टान्ते साध्यसाधनयोः संभवमात्रं दृश्यते न तु साध्येन व्याप्तो हेतुः सोऽनन्वयः । अप्रदर्शितान्वयश्च यस्मिन्दृष्टान्ते विद्यमानोऽप्यन्वयो न प्रदर्शितो वक्त्रा सोऽप्रदर्शितान्वयः ।

अनन्वयमुदाहरति ।

यथा-यो वक्ता स रागादिमानिष्टपुरुषवत् ।

यथेति । यो वक्तेति वक्तृत्वमनूद्य स रागादिमानिति रागादिमत्त्वं[1] विहितम् । ततो वक्तृत्वस्य रागादिमत्त्वं विहितम् । ततो वक्तृत्वस्य रागादिमत्त्वं प्रति नियमस्तेन व्याप्तिरुक्ता । इष्टपुरुषवदिति । इष्टग्रहणेन प्रतिवाद्यपि गृह्यते[2] वाद्यपि[3] । तेन वक्तृत्वरागादिमत्त्वयोः सत्त्वमात्रमिष्टे पुरुषे सिद्धम् । व्याप्तिस्तु न सिद्धा । तेनानन्वयो दृष्टान्त इति ।

अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद्घटवदिति ।

अनित्यः शब्द इत्यनित्यत्वं साध्यम् । कृतकत्वादिति हेतुः । घटवदित्यत्र[4] दृष्टान्तेन प्रदर्शितोऽन्वयः । इह यद्यपि कृतकत्वेन घटसदृशः शब्दस्तथापि नानित्यत्वेनापि सदृशः प्रत्येतुं शक्यो[5]ऽतिप्रसङ्गात् । यदि तु कृतकत्वमनित्यत्व[6]स्वभावं विज्ञातं

---

१ रागादिमत्त्व, क० रागादिमत्त्व ।

२ गृह्यते, ख० संगृह्यते । ३ वाद्यपि, क० विद्यपि ।

४ 'अत्र' इति पदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते ।

५ शक्यः, ख० शक्यते । ६ अनित्यत्व० ख० अनित्य ।

भवत्येवं कृतकत्वादनित्यत्वप्रतीतिः स्यात् । तस्माद्यत्कृतकं तदनित्यमिति । कृतकत्वमनित्यत्वनियतमभिधाय नियमसाधनायान्वयवाक्यार्थप्रतिपत्तिविषयो दृष्टान्त उपादेयः । स च प्रदर्शितान्वय एव । अनेन त्वन्वयवाक्यमनुक्त्वैव दृष्टान्त उपात्तः । ईदृशश्च साधर्म्यमात्रेणैवोपयोगी । नच साधर्म्यात्साध्यसिद्धिः । अतोऽन्वयार्थो दृष्टान्तस्तदर्थश्चानेन नोपात्तः । साधर्म्यार्थश्चोपात्तो निरुपयोग इति वक्तृदोषादयं दृष्टान्तदोषः । वक्त्रा ह्यत्र परः प्रतिपादयितव्यः । ततो यदि नाम न दुष्टं वस्तु तथापि वक्त्रा दुष्टं दर्शितमिति दुष्टमेव ।

तथा विपरीतान्वयः ।

तथा विपरीताऽन्वयो यस्मिन्दृष्टान्ते स तथोक्तः ।

तमेवोदाहरति—

यदनित्यं तत्कृतकम् ।

यदनित्यं तत्कृतकमिति । कृतकत्वमनित्यत्वनियतं दृष्टान्ते दर्शनीयम् । एवं कृतकत्वादनित्यत्वगतिः स्यात् । अत्र त्वनित्यत्वं कृतकत्वे नियतं दर्शितम् । कृतकत्वं त्वनियतमेवानित्यत्वे । ततो यादृशमिह कृतकत्वमनियतमनित्यत्वे प्रदर्शितं तादृशान्नास्त्यनित्यत्वप्रतीतिः । तथा हि । यदनित्यमित्यनित्यत्वमनूद्य तत्कृतकमिति कृतकत्वं विहितम् । अतोऽनित्यत्वं नियतमुक्तं कृतकत्वे न तु कृतकत्वमनित्यत्वे । ततो यथानित्यत्वादनियतात्प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन प्रयत्नानन्तरीयकत्वप्रतीतिस्तद्वत्कृतकत्वादनित्यत्वप्रतिपत्तिर्न स्यात् । अनित्यत्वेऽनियतत्वात्कृतकत्वस्य । यद्यपि च कृतकत्वं वस्तुस्थित्यानित्यत्वे नियतं तथाप्यनियतं वक्त्रा दर्शितम् । अतस्तत्त्व-

---

१ अनित्यत्व०, ख० अनित्यत्वे ।

२ 'तथाप्यनियतं' इति पाठः क० पुस्तके नोपलभ्यते ।

यं न दृष्टमपि वक्तुर्दोषाददुष्टम्। तस्माद्विपरीतान्वयोऽपि वक्तुरपराधान्न वस्तुतः। परार्थानुमाने च वक्तुरपि दोषश्चिन्त्यते।

इति साधर्म्येण।

इति साधर्म्येण नवं दृष्टान्तदोषा उक्ताः।

वैधर्म्येणापि नवं दृष्टान्तदोषान्वक्तुमाह—

वैधर्म्येणापि परमाणुवत्कर्मवदाकाशवदिति साध्याद्यव्यतिरेकिणः।

नित्यत्वे शब्दस्य साध्ये हेतावमूर्तत्वे परमाणुवद्वैधर्म्यदृष्टान्तः। साध्याव्यतिरेकी नित्यत्वात्परमाणूनाम्। कर्म साधनाव्यतिरेकि। अमूर्तत्वात्कर्मणः। आकाशमुभयाव्यतिरेकि। नित्यत्वादमूर्तत्वाच्च। साध्यमादिर्येषां तानि साध्यादीनि साध्यसाधनोभयानि तेषामव्यतिरेको वृत्त्यभावः स येषामस्ति ते साध्याद्यव्यतिरेकिणः। ते चोदाहृताः।

अपरानुदाहर्तुमाह—

तथा संदिग्धसाध्यव्यतिरेकादयः।

तथेति। साध्यस्य व्यतिरेकः साध्यव्यतिरेकः संदिग्धः साध्यव्यतिरेको यस्मिन्स संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः स आदिर्येषां ते तथोक्ताः।

---

१ वक्तुर्दोषात्, क० वक्तु दोषात्, ख० वक्तृदोषात्।
२ नव दृष्टान्त०, ख० तद्दृष्टान्त०।
३ मुद्रित पुस्तके 'द्वैधर्म्येण'।
४ पदमिदं ख० पुस्तके नोपलभ्यते।
५ वक्तुमाह, ख० वक्तुकाम आह।
६ परमाणुवत्, ख० परमाणु०।
७ वृत्त्यभावः, ख० निवृत्ताभावः (अशुद्धः)

संदिग्धसाध्यव्यतिरेकमुदाहर्तुमाह–

यथाऽसर्वज्ञाः[1] कपिलादयोऽनाप्ता वा । अविद्यमान-सर्वज्ञताप्तताल्लिङ्गभूतप्रमाणातिशयशासनत्वादिति ।

यथेति । असर्वज्ञा इत्येकं साध्यम् । अनाप्ता अक्षीणदोषा इति द्वितीयम् । कपिलादय इति धर्मी । अविद्यमानसर्वज्ञतेत्यादिहेतु । सर्वज्ञता चाप्तता च तयोर्लिङ्गभूतः प्रमाणातिशयो लिङ्गात्मकः प्रमाणविशेषः । अविद्यमानः सर्वज्ञताप्तताल्लिङ्ग-भूतः प्रमाणातिशयो यस्मिंस्तत्तथोक्तं शासनं । तादृशं शासनं येषां ते तथोक्तास्तेषां भावस्तत्त्वं तस्मात्प्रमाणातिशयो ज्योतिर्ज्ञानोपदेश इहाभिप्रेतः । यदि हि कपिलादयः सर्वज्ञा आप्ता वा स्युस्तदा ज्योतिर्ज्ञानादिकं कस्मान्नोपदिष्ट-वन्तः । नचोपदिष्टवन्तः । तस्मान्न सर्वज्ञा आप्ता वा ।

अत्र प्रमाणे वैधर्म्योदाहरणम्–

अत्र वैधर्म्योदाहरणं यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान् ।

यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकं सर्वज्ञताप्तताल्लिङ्ग-भूतमुपदिष्टवान् ।

तद्यथा । ऋषभ[2]वर्धमा[3]नादिरिति ।

यथा ऋषभो वर्धमानश्च तावादौ यस्य स ऋषभवर्धमानादिर्दिगम्बराणां[4] शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्चेति ।

---

१ 'यथाऽसर्वज्ञाः' इति पाठोऽस्माकं सम्मतौ । मुद्रितपुस्तके तु 'यथा सर्वज्ञाः' इति पाठ एव ।

२ जैनानां चतुर्विंशतितीर्थंकरमध्ये प्रथमस्तीर्थंकरः ।

३ तेषामेवान्तिमः । यश्च 'महावीरः' इत्यभिख्यामपि लभते ।

४ 'दिगम्बरः' जैनानां सम्प्रदायविशेषोऽस्ति । यद्यपि चतुर्विंशतिरेव तीर्थंकराः श्वेताम्बरादिभिरपि मन्यन्ते तथापि 'ग्रन्थकर्तृस-

तत्रासर्वज्ञतानाप्ततयोः साध्यधर्मयोः संदिग्धो व्यतिरेकः ।

तदिह वैधर्म्योदाहरणादृषभादेरसर्वज्ञत्वस्यानाप्ततायाश्च व्यतिरेको व्यावृत्तिः संदिग्धा । यतो ज्योतिर्ज्ञानं चोपदिशेदसर्वज्ञश्च भवेदनाप्तो वा । कोऽत्र विरोधः । नैमित्तिकमेतज्ज्ञानं व्यभिचारि न सर्वज्ञत्वमनुमापयेत् ।

संदिग्धसाधनव्यतिरेकः ।

संदिग्धः साधनव्यतिरेको यस्मिन्स तथोक्तः ।

तमुदाहरति—

यथा—न त्रयीविदा ब्राह्मणेन ग्राह्यवचनः कश्चित्पुरुषो रागादिमत्त्वादिति ।

यथेति । ऋक्सामयजूंषि त्रीणि त्रयी तां वेत्ति त्रयीवित् । तेन न ग्राह्यं वचनं यस्येति साध्यम् । विवक्षित इति कपिलादिर्धर्मी । रागादिमत्त्वादिति हेतुः ।

अत्र वैधर्म्योदाहरणम् ।

अत्र प्रमाणे वैधर्म्योदाहरणम् । साध्याभावः साधनाभावेन व्याप्तो[1] यत्र दर्श्यते तद्वैधर्म्योदाहरणम् ।

ये ग्राह्यवचना न ते रागादिमन्तस्तद्यथा गौतमादयो धर्मशास्त्राणां प्रणेतार इति गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनधर्मस्य व्यावृत्तिः ।

ग्राह्यं वचनं येषां ते ग्राह्यवचना इति साध्यनिवृत्तिमनूद्य न

मये न श्वेताम्बरास्सर्वसाधारणज्ञायन्ते स्म' इत्यपि कथयितु शक्नुवन्ति ।

१ व्याप्तो यत, ख० यत्र व्याप्तः ।

ते रागादिमन्त इति साधनाभावो विहितः। गौतम आदिर्येषां ते तथोक्ता मन्वादयो धर्मशास्त्राणि स्मृतयस्तेषां कर्तारः। त्रयीविदा हि ब्राह्मणेन ग्राह्यवचना धर्मशास्त्रकृतो वीतरागाश्च। त इति धर्मी। व्यतिरेकविषयो गौतमादय इति गौतमादिभ्यो रागादिमत्त्वस्य साधनस्य निवृत्तिः संदिग्धा। यद्यपि ते ग्राह्यवचनास्त्रयीविदा तथापि किं सरागा उत वीतरागा इति संदेहः।

संदिग्धासंदिग्धोभयव्यतिरेकः।

सन्दिग्ध उभयोर्व्यतिरेको यस्मिन्स तथोक्तः।

तमुदाहरति—

यथा ऽवीतरागाः कपिलादयः परिग्रहाग्रहयोगादिति।

यथेति। अवीतरागा इति रागादिमत्त्वं साध्यम्। कपिलादय इति धर्मी। परिग्रहो लभ्यमानस्य स्वीकारः प्रथमः। स्वीकारादूर्ध्वं यद्गार्ध्यं मात्सर्यं स आग्रहः। परिग्रहश्चाग्रहश्च ताभ्यां योगात्। कपिलादयो लभ्यमानं स्वीकुर्वन्ति स्वीकृतं न मुञ्चन्तीति ते रागादिमन्तो गम्यन्ते।

अत्र वैधर्म्येणोदाहरणम्।

अत्र प्रमाणे वैधर्म्योदाहरणम्। यत्र साध्याभावे साधनाभावो दर्शयितव्यः।

यो वीतरागो न तस्य परिग्रहाग्रहो यथा—ऋषभादेरिति। ऋषभादेरवीतरागत्वपरिग्रहाग्रहयोगयोः साध्यसाधनधर्मयोः संदिग्धो व्यतिरेकः।

यो वीतराग इति साध्याभावमनूद्य न तस्य परिग्रहाग्रहाविति

---

१ रागादि०, ख० रागादि०।

२ त इति, ख० त इतीह।

३ त्रयीविदा, ख० त्रयीविदः।

साधनाभावो विहितः । यथा ऋषभादेरिति दृष्टान्तः । एतस्मादृषभादेर्दृष्टान्तादवीतरागत्वस्य साध्यस्य परिग्रहाग्रहयोगस्य च साधनस्य निवृत्तिः संदिग्धा । ऋषभादीनां हि परिग्रहाग्रहयोगोऽपि संदिग्धो वीतरागत्वं च । यदि नाम तत्सिद्धान्ते वीतरागाश्च निष्परिग्रहाश्च पठ्यन्ते तथापि संदेह एव ।

अपरानपि त्रीनुदाहर्तुमाह—

अव्यतिरेको यथाऽवीतरागो वक्तृत्वात् ।

अविद्यमानोऽव्यतिरेको यस्मिन्सोऽव्यतिरेकः । अवीतराग इति रागादिमत्त्वं साध्यम् । वक्तृत्वादिति हेतुः ।

इह व्यतिरेकमाह—

वैधर्म्योदाहरणं यत्र वीतरागत्वं नास्ति स वक्ता यथोपलखण्ड इति । यद्यप्युपलखण्डादुभयं व्यावृत्तया सर्वो वीतरागो न वक्तेति व्याप्त्या व्यतिरेकासिद्धेरव्यतिरेकः ।

यत्रावीतरागत्वं नास्तीति साध्याभावानुवादः । तत्र वक्तृत्वमपि नास्तीति साधनाभावविधिः । तेन साधनाभावेन साध्याभावो व्याप्त उक्तः । दृष्टान्तो यथोपलखण्डेति । कथमयमव्यतिरेको यावतोपलखण्डादुभय निवृत्तम् । किमतो यद्युपलखण्डादुभयं व्यावृत्तं सरागत्वं च वक्तृत्वं च तथापि व्याप्त्या व्यतिरेको यस्तस्यासिद्धेः कारणादव्यतिरेकोऽयम् । कीदृशी पुनर्व्याप्तिरित्याह । सर्वो वीतराग इति साध्याभावानुवादः । न वक्तेति साधनाभावविधिः । तेन साध्याभावः साधनाभावनियतः ख्यापितो[2] भवतीति[3] । ईदृशी व्याप्तिस्तया व्यतिरेको न

---

१ ०योगस्य, क० ०योगत्वस्य । २ ख्यापित., क० स्थापित ।
३ 'इति' इति पद ख० पुस्तके नोपलभ्यते ।

सिद्धोऽस्य चार्थस्य प्रसिद्धये दृष्टान्तस्तत्स्वकार्याकरणाद्दुष्टः ।

अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा—अनित्यः शब्दः कृतकत्वा-दाकाशवदिति ।

अप्रदर्शितो व्यतिरेको यस्मिन्स तथोक्तः । अनित्यः शब्द इत्यनित्यत्वं साध्यम् । कृतकत्वादिति हेतुः । आकाशवदिति वैधर्म्येण दृष्टान्तः । इह परार्थानुमाने परस्मादर्थः प्रतिपत्तव्यः । स शुद्धोऽपि स्वतो यदि परेणाशुद्धः ख्याप्यते । स तावद्यथा प्रकाशितस्तथा न युक्तो यथा युक्तस्तथा न प्रकाशितः । प्रकाशितश्च हेतुः । अतो वक्तुरपराधादपि परार्थानुमाने हेतुर्दृष्टान्तो वा दुष्टः स्यादपि । न च सादृश्यादसादृश्याद्वा साध्यप्रतिपत्तिरपि तु साध्यनियताद्धेतोः । अतः साध्यनियतो हेतुरन्वयवाक्येन व्यतिरेकवाक्येन च वक्तव्यः । अन्यथा गमको नोक्तः स्यात् । स तथोक्तो दृष्टान्तेन[1] सिद्धो दर्शयितव्यः । तस्माद्दृष्टान्तो नामान्वयव्यतिरेकवाक्यार्थप्रदर्शनः । न चेह व्यतिरेकवाक्यं प्रयुक्तम् । अतो[2] वैधर्म्यदृष्टान्त इहासादृश्यभावेन साधक उपन्यस्तः । न च तथा साधको व्यतिरेकविषयत्वेन । स साधको न च तथोपन्यस्त इति । अतोऽप्रदर्शितव्यतिरेको वक्तुरपराधाद्दुष्टः ।

वैधर्म्येणापि विपरीतव्यतिरेको यथा यदकृतकं तन्नित्यं भवतीति ।

विपरीतो व्यतिरेको यस्मिन्वैधर्म्यदृष्टान्ते स तथोक्तः । तमुदाहरति । यदकृतकमित्यादि । इहान्वयव्यतिरेकवाक्याभ्यां

---

१ दृष्टान्तेन सिद्धः, ख० दृष्टान्तेनासिद्धः ।

२ अत, ख० अय ।

साध्यनियतो हेतुर्दर्शयितव्यः । यदा च साध्यनियतो हेतुर्दर्शयितव्यस्तदा व्यतिरेकवाक्ये साध्याभावः साधनाभावे नियतो दर्शयितव्यः । एवं हि हेतुः साध्यनियतो दर्शितः स्यात् । यदि तु साध्याभावः साधनाभावे नियतो नाख्यायते साधनसत्तायामपि साध्याभावः संभाव्येत[1] । तथा च साधनं साध्यनियतं न प्रतीयेत[2] । तस्मात्साध्याभावः साधनाभावे नियतो वक्तव्यः । विपरीतव्यतिरेके च साधनाभावः साध्याभावे नियत उच्यते । न साध्याभावः साधनाभावे । तथा हि । यदकृतकमिति साधनाभावमनूद्य तन्नित्यमिति साध्याभावविधिः । ततोऽयमर्थः । अकृतको नित्य एव । तथा च सत्यकृतकत्वं नित्यत्वे साध्यभावे नियतमुक्तं न नित्यत्वं साधनाभावे । ततो न साध्यनियतं हेतुं व्यतिरेकवाक्यमाह । तथा च विपरीतव्यतिरेकोऽपि वक्तुरपराधाद्दुष्टः ।

दृष्टान्तदोषानुदाहृत्य दुष्टत्वनिबन्धनत्वं दर्शयितुमाह—

न ह्येभिर्दृष्टान्ताभासैर्हेतोः सामान्यलक्षणं सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षे च सर्वत्रासत्त्वमेव निश्चयेन शक्यं दर्शयितुं विशेषलक्षणं वा ।

न ह्येभिरिति । साध्यनियतहेतुप्रदर्शनाय[3] दृष्टान्ता वक्तव्याः । एभिश्च हेतोः सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षे च सर्वत्रासत्त्वमेव यत्सामान्यलक्षणं तन्निश्चयेन न शक्यं दर्शयितुम् । ननु च सामान्यलक्षणं विशेषनिष्ठमेव प्रतिपत्तव्यं न स्वत एवेत्याह । विशेषलक्षणं वा । यदि विशेषलक्षणं प्रतिपादयितुं शक्येत । स्यादेव

---

१ ख० संभाव्यते ।

२ ख० प्रतीयते ।

३ ०प्रदर्शनाय, ख० प्रदर्शना हि ।

सामान्यलक्षणप्रतिपत्तिः । विशेषलक्षणमेव तु न शक्यमेभिः प्रतिपादयितुम् ।

तदर्थापत्त्यैषां निरासो वेदितव्यः ।

तस्मादर्थापत्त्या सामर्थ्येनेति[1] तेषां निराकरणं द्रष्टव्यम् । साध्यनियतसाधनप्रतीतय[2] उपात्ताः । तदसमर्था दृष्टाः स्वकार्यकरणादिति सामर्थ्यम् । इयता साधनमुक्तम् ।

दूषणं वक्तुमाह—

दूषणा न्यूनतायुक्तिः ।

दूषणा का द्रष्टव्या । न्यूनतादीनामुक्तिरुच्यते । न यत्युक्तिर्वचनं न्यूनतादिर्वचनम् ।

दूषणं विवरीतुमाह —

ये पूर्वं न्यूनतादयः साधनदोषा उक्तास्तेषामुद्भावनं दूषणम् ।

ये पूर्वं न्यूनतादयोऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिका उक्तास्तेषामुद्भावनं यद्वचनं तद्दूषणम् ।

ननु च न्यूनतादयो न विपर्ययसाधनास्तत्कथं दूषणमित्याह—

तेन परेष्टार्थसिद्धिप्रतिबन्धात् ।

तेन न्यूनतादिवचनेन परेषामिष्टश्चासावर्थश्च तस्य सिद्धिर्निश्चयस्तस्याः प्रतिबन्धान्नावश्यं विपर्ययसाधनादेव दूषणं विरुद्धवदपि तु परस्याभिप्रेतनिश्चयनिबन्धान्निश्चयाभावो भवति ।

---

१ मुद्रितपुस्तके 'इति न तेषां' इति पाठोऽस्ति । किन्त्वस्माकं सम्मतौ 'न' इति पदं नात्र युज्यते ।

२ प्रतीतये, ख० प्रतिपत्तये ।

निश्चयविपर्यय इत्यस्ति[1] विपर्ययसिद्धिरिति ।

दूषणाभासास्तु जातयः ।

उक्ता दूषणाभासा इति । दूषणवदाभासन्त[2] इति दूषणाभासाः । के ते जातयः। जातिशब्दः सादृश्यवचन उत्तरसदृशानि जात्युत्तराणीति[3] । उत्तरस्थानप्रयुक्तत्वादुत्तरसदृशानि जात्युत्तराणि ।

तदेवोत्तरसादृश्यमुत्तरस्थानप्रयुक्तत्वेन दर्शयितुमाह–

अनुभूतदोषोद्भावनानि जात्युत्तराणीति ।

अभूतस्यासत्यस्य दोषस्योद्भावनानि । उद्भाव्यत एतैरित्युद्भावनानि वचनानि तानि जात्युत्तराणि । जात्या सादृश्येनोत्तराणि जात्युत्तराणीति ।

इति तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः ।

कतिपयपदवस्तुव्याख्यया यन्मयाप्तं
कुशलममलमिन्दोरंशुवन्न्यायबिन्दोः ।
पदमजरमवाप्य ज्ञानधर्मोत्तरं य-
ज्जगदुपकृतिमात्रव्यापृतिः स्यामतोऽहम्[4] ॥

---

१ अस्ति, ख० अस्त्येव ।

२ दूषणवत्, ख० दूषणावत ।

३ 'इति' इति पदं ख० पुस्तके न विद्यते ।

४ अथ श्रीधर्मोत्तराचार्यः स्वाभिप्रायप्रकाशपुरःसरं कृतिमुपसंहरन्नाह—कतिपयेति । यत् । मया धर्मोत्तराचार्येण । इन्दोश्चन्द्रस्य । अंशुवत् किरणवत् । न्यायबिन्दोःन्यायबिन्दुः नाम अस्य ग्रन्थस्य । कतिपयान्यमूनि पदानि तान्येव वस्तूनि तेषां व्याख्या तया न्यायबिन्दुटीकया इत्यर्थः । कुशल निर्विघ्नं । अमलं निर्मलं । अजरं अनश्यं । पदं । अवाप्य प्राप्य । यत् । ज्ञानं च धर्मं च ज्ञानधर्मे ता-

न्यायबिन्दुः समाप्तः ।

समाप्तेयं न्यायबिन्दुटीका कृतिराचार्यधर्मोत्तरस्य॥०॥

सहस्रमेकं श्लोकानां तथा शतचतुष्टयम् ।
सप्तसप्ततिसंयुक्तं निपुणं परिपिण्डितम्[2] ॥

न्यां, उत्तरं श्रेष्ठं ज्ञानधर्मोत्तर। अथवा अनेन पदेन आचार्येण स्वनाम 'धर्मोत्तराचार्यः' प्रदर्शितम, आचार्यस्य ज्ञानकारणत्वात्। आप्तं प्राप्तं। अतोऽस्मात् न्यायबिन्दुटीकारूपकार्यात् । जगतः उपकृतिरूपकारस्तन्मात्रमेव व्यापृतिः व्यापारो यस्य स । अहं धर्मोत्तराचार्यः । स्याम् ।

१ 'समाप्तेय' आदि; ख० आचार्यधर्मोत्तरपादविरचितायां न्यायबिन्दुटीकायां तृतीयः परिच्छेद समाप्तः ॥

२ ग्रन्थस्यास्य परिमाणं १४७७ श्लोकप्रमितिमात्रमस्ति। श्लोकेऽत्र द्वात्रिंशदक्षराणि ज्ञेयानि ।

बौद्ध न्यायबिन्दु
का
हिन्दी अनुवाद

काव्यसाहित्यतीर्थाचार्य श्री चन्द्रशेखर शास्त्री कृत ।

प्रथम परिच्छेद ।

सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति तद्व्युत्पाद्यते ।

सभी पुरुषार्थोंकी सिद्धि सम्यग्ज्ञान पूर्वक होती है, अतएव [इस ग्रन्थमें] उसीका वर्णन किया जाता है ।

द्विविधं सम्यग्ज्ञानम्—

सम्यग्ज्ञान दो प्रकारका होता है—

प्रत्यक्षमनुमानञ्च ।

प्रत्यक्ष और अनुमान ।

तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् ।

उनमेंसे कल्पनारहित निर्भ्रान्त ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं ।

अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना तया रहितम् ।

अभिलाप (वाचकशब्द) से संसर्ग (एक ज्ञानमें अभिधेयाकारका अभिधानाकारके साथ ग्रहण करने योग्य हो जाना। जो कहा जावे उसे अभिधेय तथा कहने या नाम को अभिधान कहते हैं) के योग्य प्रतिभासकी प्रतीतिको कल्पना कहते हैं । ('वृक्ष' इस शब्दके कहते ही हृदयमें इस शब्दके संसर्ग से इस शब्दके योग्य स्कन्ध और शाखादिमान् पदार्थका प्रतिभास होने लगता है। उस पदार्थकी प्रतीतिको कल्पना कहते हैं।) प्रत्यक्षज्ञान उस कल्पनासे रहित होना चाहिये।

तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्यनाहितविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

जिस ज्ञानमें अन्धकार, [अलात आदिका] शीघ्र २ घूमना, नौकापर जाना और [वात पित्त और श्लेष्मके] संक्षोभ आदिसे वि

भ्रम नहीं हुआ है ऐसा [कल्पना रहित और निर्भ्रान्त] ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है।

तच्चतुर्विधम् ।

प्रत्यक्षज्ञान चार प्रकारका होता है—

१ इन्द्रियज्ञान, २ मनोविज्ञान, ३ आत्मसंवेदन (स्वसंवेदन) और ४ योगिप्रत्यक्ष (योगिज्ञान)।

इन्द्रियज्ञानम्[१] ।

इन्द्रियोंके ज्ञानको इन्द्रियज्ञान कहते हैं।

स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तत्[१] मनोविज्ञानम् ।

अपने विषयके पश्चात्, विषयके सहकारी, समनन्तरप्रत्ययरूप इन्द्रियज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको मनोविज्ञान कहते हैं।

(बौद्ध दर्शनमें ज्ञानके ४ प्रत्यय (कारण) माने हैं। नेत्रसे घटको देखनेमें पहला कारण स्वयं घट है। अतएव विषय होनेसे इसको आलम्बन प्रत्यय कहते हैं। दूसरा कारण आलोक है। क्योंकि उसकी सहायताके बिना इन्द्रियाँ किसी विषयको ग्रहण नहीं कर सकतीं। अतएव उसको सहकारिप्रत्यय कहते हैं। तीसरा कारण इन्द्रियें हैं उनको अधिपतिप्रत्यय कहते हैं। और चौथा कारण ग्रहण करने अथवा विचार करनेकी वह शक्ति है जिसका उपयोग न होने से हम प्रायः देखते हुए भी नहीं देख सकते, शब्द होते हुए भी नहीं सुन सकते। बौद्धेतर दर्शनोंकी अपेक्षा इसको मन कहना उपयुक्त होगा। इसको समनन्तरप्रत्यय कहते हैं।)

सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्[२] ।

सभी चित्त (अर्थमात्रको ग्रहण करने वाले) और चैत्तों (विशेष अवस्थाको ग्रहण करने वाले सुख आदि] का आत्माको प्रकट करना आत्मसंवेदन है।

(बाह्यार्थास्तित्ववादी बौद्धोंके मतमें प्रत्येक वस्तुके दो भेद हैं-

---

१ पीटर्सन साहब की पुस्तक में विराम-चिह्न 'इन्द्रियज्ञानम्' के पश्चात् न देकर अगले वाक्य में 'तत्' के पश्चात् दिया गया है। जिससे 'स्वविषय' आदिके इन्द्रियज्ञान का लक्षण होने का भ्रम होता है। संस्कृतटीका के सम्पादन में हम इस भ्रम से नहीं बच सके।

२ पीटर्सन पुस्तक में पाठ 'सर्व चित्त-' आदि है। किन्तु वह अशुद्ध है।

बाह्य और आन्तर। बाह्य के फिर दो भेद है-भूत और भौतिक। आन्तर के भी दो भेद है-चित्त और चैत्त। चैत्तको चात्तिक भी कहते है। भूत पृथ्वी आदि चार परमाणु है। भौतिक रूप आदि और चक्षु आदि है। चित्त विज्ञान है। चैत्तिक रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, और संस्कार संज्ञा वाले पाँच स्कन्ध है। विज्ञानके फिर दो भेद है-आलयविज्ञान जो 'अहं' या 'मै' इस आकारका है। प्रवृत्तिविज्ञान इन्द्रिय आदि से उत्पन्न होता है और रूप आदि को विषय करता है।)

भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति।

सद्भूत अर्थ के प्रकर्ष तक होने वाले ज्ञानको योगिज्ञान कहते है। (योगिप्रत्यक्ष सद्भूत अर्थका ही हो सकता है। असद्भूतका नही हो सकता, और वह भी थोडा बहुत नही होता किन्तु प्रकर्ष अर्थात् चरम सीमा तक होता है।)

तस्य विषयः स्वलक्षणम्।

प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है। [जो कि क्षण है।]

यस्यार्थस्य संनिधानासंनिधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्त-
त्स्वलक्षणम्, तदेव परमार्थसत्, अर्थक्रियासा-
मर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः।

जिस विषयकी समीपता और असमीपतासे ज्ञानके प्रतिभासमें भेद हो वह स्वलक्षण है। और वही परमार्थ सत् है। क्योंकि वही वस्तुमें अर्थक्रिया कराता है।

अन्यत्सामान्यलक्षणम्, सोऽनुमानस्य विषयः।

स्वलक्षणसे भिन्न सामान्यलक्षण होता है। वह अनुमानका विषय होता है।

तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात्।

वह प्रत्यक्ष ज्ञान ही अर्थ प्रतीतिरूप होनेसे प्रमाणका फल है।

अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं, तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति।

इस ज्ञानका अर्थके समान बन जाना प्रमाण है। क्योंकि उसीसे अर्थकी प्रतीतिकी सिद्धि होती है।

द्वितीय परिच्छेद ।

अनुमानं द्विधा—

अनुमान दो प्रकारका होता है—

स्वार्थं परार्थं च ।

स्वार्थ और परार्थ ।

तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम् ।

त्रिरूपलिंग से होने वाले अनुमेयके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहते हैं ।

प्रमाणफलव्यवस्थात्रापि प्रत्यक्षवत् ।

प्रमाणके फलकी व्यवस्था यहां भी प्रत्यक्षके ही समान है ।

त्रैरूप्यम् पुनः—

लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव,

सपक्ष एव सत्त्वम्,

असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् ।

त्रैरूप्य (त्रिरूपलिंग) यह है—

(१) अनुमेयमें लिङ्गकी विद्यमानता—

(लिङ्ग शब्दका अर्थ चिन्ह है । जैसे—दूरसे देखनेवालेके लिये अग्निका चिन्ह या लिङ्ग धूम है । धूम ही हेतु है । इस को धर्म भी कहते है ।)

(२) लिङ्गका सपक्षमें अवश्य रहना । और

(३) लिङ्गका विपक्षमें किसी अवस्थामें भी न रहना ।

अनुमेयोऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मी ।

जिस धर्मीको अनुमानके द्वारा जाननेकी इच्छा की जाती है उसे अनुमेय कहते है ।

(जिस गुण या लक्षणको दिखला कर वस्तु (अनुमेय) सिद्ध की जाती है उसे धर्म कहते हैं । जिस वस्तु (अनुमेय) में वह धर्म रहे उसे धर्मी कहते है । जिसे सिद्ध किया जावे उसे साध्य कहते है ।)

साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः ।

जो पदार्थ साध्यधर्मके समान हो उसे सपक्ष कहते हैं ।

(बौद्धग्रन्थों में 'धर्म' शब्द के चार अर्थों में चार प्रयोग मिलते हैं—

(१) Scriptural Texts या मूल धार्मिक पुस्तकें ।

(२) Quality या गुण ।

(३) Cause या हेतु । और

(४) Unsubstantial and Soulless या निस्सत्व और निर्जीव । इसको पाली में 'निसत्त निर्ज्जीव' कहते हैं । हमारी सम्मति में न्यायबिन्दु के समासों में 'धर्म' शब्द का तीसरे अर्थ में प्रयोग किया गया है ।)

न सपक्षोऽसपक्षः ।

जो सपक्ष नहीं होता उसे विपक्ष या असपक्ष कहते हैं ।

ततोऽन्यस्तद्विरुद्धस्तदभावश्चेति ।

जो वस्तु सपक्षसे भिन्न हो या सपक्षके विरुद्ध हो अथवा जिसमें सपक्षका अभाव हो वह असपक्ष होता है ।

त्रिरूपाणि च ॥

[ऊपर कहे हुए] त्रिरूप हैं ।

त्रीण्येव च लिङ्गानि—

अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति ।

लिङ्ग भी तीन ही होते हैं—

अनुपलब्धि स्वभाव और कार्य ।

तत्रानुपलब्धिर्यथा—न प्रदेशविशेषे क्वचिद्घट

उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ।

उनमें से अनुपलब्धि इसप्रकार है—

जैसे-किसी विशेष स्थान में घट नहीं है । क्योंकि घटके उपलब्धिलक्षणप्राप्त होने पर भी उसकी वहां अनुपलब्धि है ।

(घट स्वभावसे ही विद्यमान है । अर्थात् घटके अस्तित्वमें स्वभावके अतिरिक्त अन्य कारण नहीं है । अतएव घट उपलब्धि (मिलना) लक्षण वाला है । घटमें उपलब्धिलक्षण है अतएव वह उपलब्धिलक्षणप्राप्त है । घटका उपलब्धिलक्षणप्राप्तपना उसकी उपलब्धिलक्षणप्राप्ति है । अनुपलब्धि न मिलनेको कहते हैं ।)

उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरुपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्यं स्वभावविशेषश्च ।

उपलब्धिलक्षणप्राप्ति उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्य और स्वभाव-विशेष [यह तीनों एकही है ।] (पीछे उपलब्धिके चार प्रत्यय बतला दिये है। यहाँ प्रत्यान्तर शब्द आलम्बनप्रत्ययके अतिरिक्त अन्य प्रत्ययोंका वाचक है। साकल्य सम्पूर्णताको कहते हैं। उपलम्भके प्रत्ययान्तरोंकी एकत्रित सम्पूर्णताको उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्य कहते हैं।)

यः स्वभावः सत्स्वन्येषूपलम्भप्रत्ययेषु यत्प्रत्यक्ष एव भवति स स्वभावः ।

[आलम्बनप्रत्ययके अतिरिक्त] शेष उपलम्भप्रत्ययोंके रहते हुए जो स्वभावसे प्रत्यक्ष होता है वह स्वभाव है। (यह स्वभाव विशेषकी परिभाषा है।)

स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः ।

यथा—वृक्षोऽयं शिंशपात्वादिति ।

[जो पदार्थ अपने हेतुके अस्तित्वकी अपेक्षाकरके विद्यमान होता है और हेतुसत्तासे भिन्न अन्य किसी हेतुकी अपेक्षा नहीं करता वह स्वसत्तामात्रभावी साध्य है।] उस स्वसत्तामात्रभावी साध्यधर्ममें जो हेतु है वह स्वभाव हेतु है।

जैसे–यह वृक्ष है, क्योंकि यह शीशम है।

कार्यं यथाग्निरत्र धूमादिति ।

कार्यका उदाहरण—

जैसे–यहाँपर अग्नि है, क्योंकि यहाँ धूम है।

अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ[1], एकः प्रतिषेधहेतुः ।

इन तीन हेतुओंमें (अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्यमें) से दो हेतु (स्वभाव और कार्य) वस्तुकी विधिको बतलाते है। और एक (अनुपलब्धि) प्रतिषेधको बतलाता है।

स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थं गमयेत् ।

स्वभावप्रतिबन्ध (स्वभावसे एक स्थानमें नियत होना) होने

---

१. पूर्व छपी पुस्तक मे विराम चिन्ह '-साधनौ' के पश्चात् है। 'प्रतिषेधहेतु' के पश्चात् कोई चिन्ह न देकर उसे अगले वाक्य मे मिला दिया है, जिससे अर्थ बिलकुल गड़बड़ा जाता है।

पर ही साधन अर्थ साध्य अर्थको बतलाता है। [इस कारणसे यह तीन ही साध्यको सिद्ध कर सकते हैं अन्य नहीं]

तदप्रतिबद्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावात् ।

क्योंकि जो जहाँ पर स्वभावसे प्रतिबद्ध नहीं होता उसका अप्रतिबद्धविषयमें अव्यभिचारके नियमका अभाव होता है। [अतएव स्वभावसे अप्रतिबद्धोंमें अव्यभिचारनियम अथवा अविनाभावनियम नहीं बन सकता। गम्यगमकभाव अव्यभिचारनियम से ही होता है। लिङ्ग योग्यतासे दीपकके समान परोक्ष अर्थको प्रकाशित करनेका निमित्त भी नहीं माना जा सकता। विरुद्ध इसके वह अव्यभिचारीपने से ही निश्चय किया जाता है। अतएव स्वभावप्रतिबन्ध होने पर ही अविनाभाव का निश्चय होता है। और गम्यगमकभाव अविनाभावसे ही होता है। अतएव स्वभावप्रतिबन्ध होने पर ही अर्थ अर्थको बतलाता है अन्य प्रकार नहीं बतलाता।]

स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य वस्तुतस्ता-
दात्म्यात्साध्यार्थादुत्पत्तेश्च ।

स्वभावप्रतिबन्ध साध्य अर्थमें लिंगका होता है। (पराधीन होने से लिङ्ग प्रतिबद्ध होता है। साध्य अर्थ पराधीन न होनेसे प्रतिबन्धका विषय अथवा प्रतिबन्धविषय होता है किन्तु प्रतिबद्ध नहीं होता)। क्योंकि वास्तवमें साध्य और लिङ्गका तादात्म्य है और साध्य अर्थमें लिङ्गकी उत्पत्ति होती है। (अर्थात् तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे ही स्वभावप्रतिबन्ध होता है)

अतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च तत्राप्रतिबद्धस्वभावत्वात् ।

क्योंकि जिसका वह स्वभाव न हो तथा जिसकी उससे उत्पत्ति न हो उसमें प्रतिबद्धस्वभावता नहीं होती है।

ते च तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्ययोरेवेति
ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः ।

तादात्म्य और तदुत्पत्ति स्वभाव और कार्य में ही होती है। अतएव कार्य और स्वभावसे ही वस्तुकी (अथवा विधिकी) सिद्धि होती है।

---

१ प० पुस्तक में 'वस्तुत' यह पाठ है। किन्तु हमारी सम्मति में वह अशुद्ध है।

२ पूर्वपुस्तक में 'इस' के पश्चात् विराम दे दिया है।

प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धेः ।

सति वस्तुनि तस्या असंभवात् ।

प्रतिषेध व्यवहार की सिद्धि भी पूर्वोक्त दृश्यानुपलब्धि से ही होती है।

[क्योंकि प्रतिषेध्य] वस्तुके विद्यमान होनेपर दृश्यानुपलब्धि नहीं हो सकती।

अन्यथा चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेष्वात्मप्रत्यक्षनिवृत्तेरभावनिश्चयाभावात् ।

अनुपलब्धिलक्षणप्राप्त (जिसकी उपलब्धिका कोई कारणविशेष उपस्थित नहीं है) देशकालस्वभावविप्रकृष्ट पदार्थोंका आत्मप्रत्यक्ष न हो सकनेसे उनका अभाव नहीं कह सकते। (देशविप्रकृष्ट–जैसे भारतसे अमेरिका। कालविप्रकृष्ट–जैसे–भूतकालमें रामचन्द्र। स्वभावविप्रकृष्ट–जैसे–मदारीका अपने मुखमें से अग्नि निकालना)

[अदृश्यानुपलब्धि वस्तुके विद्यमान होते हुए भी ही हो सकती है। जिसप्रकार अन्धेको सब वस्तुएं अदृश्य होनेसे अनुपलब्ध हैं। अतएव प्रतिषेध सिद्धि अदृश्यानुपलब्धिसे न होकर दृश्यानुपलब्धिसे ही होती है।]

अमूढस्मृतिसंस्कारस्यातीतस्य वर्तमानस्य च प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्य निवृत्तिरभावव्यवहारसाधनी ।

तस्या एवाभावनिश्चयात् ।

यह दृश्यानुपलब्धि जानने वालेके पूर्व अनुभूतप्रत्यक्ष (जिस प्रत्यक्ष ज्ञानका उसके द्वारा पहिले अनुभव किया जा चुका है) और वर्तमानकालके प्रत्यक्षकी निवृत्तिके अभावके व्यवहारको बतलाने वाली है।

क्योंकि अतीत और वर्तमानकालीन अनुपलब्धि ही अभावको निश्चय करती है।

सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा ।

अनुपलब्धि प्रयोगके भेदसे ग्यारह प्रकारकी होती है—

स्वभावानुपलब्धिर्यथा । नात्र धूमः उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति ।

स्वभावानुपलब्धि (प्रतिषेध्यके स्वभावकी अनुपलब्धि)—

जैसे-यहां धूम नहीं है, क्योंकि वह उपलब्धिलक्षणप्राप्त होने पर भी अनुपलब्ध है ॥ १ ॥

कार्यानुपलब्धिर्यथा । नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति धूमाभावात् ।

कार्यानुपलब्धि (प्रतिषेध्यके कार्यकी अनुपलब्धि)—

जैसे-यहां अप्रतिबद्धसामर्थ्यवाले (जिस धूमकी गतिकी सामर्थ्य रुकी न हो) धूमके कारण नहीं है, क्योंकि यहां धूमका अभाव है ॥ २ ॥

व्यापकानुपलब्धिर्यथा । नात्र शिंशपा वृक्षाभावादिति ।

व्यापकानुपलब्धि (प्रतिषेध्यके व्याप्यके व्यापक धर्मकी अनुपलब्धि)—

जैसे-यहां शिशपा (शीशमका वृक्ष) नहीं है, क्योंकि इस स्थानमें वृक्षका अभाव है ॥ ३ ॥

स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्यथा । नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेरिति ।

स्वभावविरुद्धोपलब्धि (प्रतिषेध्यके स्वभावसे विरुद्धकी उपलब्धि)—

जसे-यहां शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि यहां अग्नि है ॥ ४ ॥

विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा । नात्र शीतस्पर्शो धूमादिति ।

विरुद्धकार्योपलब्धि (प्रतिषेध्यसे विरुद्ध कार्य की उपलब्धि)—

जैसे—यहां शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि यहां धुआं है ॥ ५ ॥

विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा । न ध्रुवभावी भूतस्यापि भावस्य विनाशो हेत्वन्तरापेक्षणादिति ।

विरुद्धव्याप्तोपलब्धि (प्रतिषेध्यके विरुद्धसे व्याप्त धर्मान्तर की उपलब्धि)—

जैसे—उत्पन्न हुई वस्तुका भी नाश अवश्यंभावी नहीं है (अनुत्पन्नका तो कैसे कह सकते हैं), क्योंकि वह हेत्वन्तर की अपेक्षा रखती है ॥ ६ ॥

कार्यविरुद्धोपलब्धिर्यथा । नेहाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि सन्त्यग्नेरिति ।

कार्यविरुद्धोपलब्धि (प्रतिषेध्यके कार्यके विरुद्धकी उपलब्धि)—
जैसे—यहां पर अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाले शीतके कारण नहीं हैं, क्योंकि यहां अग्नि है ॥ ७ ॥

व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्यथा । नात्र तुषारस्पर्शोऽग्नेरिति ।

व्यापकविरुद्धोपलब्धि (प्रतिषेध्यके व्यापकसे विरुद्धकी उपलब्धि)—
जैसे—यहां तुषारका स्पर्श नहीं है, क्योंकि यहां अग्नि है ॥ ८ ॥

कारणानुपलब्धिर्यथा । नात्र धूमोऽग्न्यभावादिति ।

कारणानुपलब्धि (प्रतिषेध्यके कारणकी अनुपलब्धि)—
जैसे—यहां पर धूम नहीं है, क्योंकि यहां अग्निका अभाव है ॥९॥

कारणविरुद्धोपलब्धिर्यथा । नास्य रोमहर्षादिविशेषाः संनिहितदहनविशेषत्वादिति ।

कारणविरुद्धोपलब्धि (प्रतिषेध्यके कारणके विरुद्धकी उपलब्धि)—
जैसे—इस पुरुषको रोमहर्ष आदि नहीं हो रहे हैं, क्योंकि उसके पास अग्निविशेष है ॥ १० ॥

कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा । न रोमहर्षादिविशेषयुक्तपुरुषवानयं प्रदेशो धूमादिति ।

कारणविरुद्धकार्योपलब्धि (प्रतिषेध्यकारणके विरुद्धके कार्यकी उपलब्धि)—
जैसे—इस प्रदेशमें रोमहर्ष आदिसे युक्त पुरुष नहीं है, क्योंकि यहां धूम है ॥ ११ ॥

इमे सर्वे कार्यानुपलब्ध्यादयो दशानुपलब्धिप्रयोगाः स्वभावानुपलब्धौ संग्रहमुपयान्ति ।

यह सब कार्यानुपलब्धि आदि दश अनुपलब्धिके प्रयोग स्वभावानुपलब्धिमें ही आ जाते है ।

पारंपर्येणार्थान्तरविधिप्रतिषेधाभ्यां प्रयोगभेदेऽपि प्रयोगदर्शनाभ्यासात्स्वयमप्येवं व्यवच्छेदप्रतीतिर्भवतीति स्वार्थेऽप्यनुमानेऽस्याः प्रयोगनिर्देशः ।

[कार्यानुपलब्धि आदिमें यद्यपि [अर्थान्तरसे विधि और प्रतिषेधसे प्रयोगभेद है तथापि परम्परासे] स्वभावानुपलब्धिमें अन्त-

भूत हो जाते हैं। हम लोगोंको इन प्रयोगोंको देखनेके अभ्याससे स्वयं ही व्यवच्छेद (प्रतिषेध) की प्रतीति होती है। इसी वासते इनका प्रयोग स्वार्थानुमानमें भी किया गया है।

सर्वत्र चास्यामभावव्यवहारसाधन्यामनुपलब्धौ येषां स्वभावविरुद्धादीनामुपलब्ध्या कारणादीनामनुपलब्ध्या च प्रतिषेध उक्तस्तेषामुपलब्धिलक्षणप्राप्तानामेवोपलब्धिरनुपलब्धिश्च वेदितव्या। अन्येषां विरोधकार्यकारणभावासिद्धिः।

इस अभाव और अभावको साधन करने वाली अनुपलब्धिमें जिन स्वभावविरुद्ध आदिकोंकी उपलब्धि और कारणादिकोंकी अनुपलब्धिसे प्रतिषेध कहा गया है उन्ही उपलब्धिलक्षणप्राप्तोंकी उपलब्धि और अनुपलब्धि जाननी चाहिये। क्योंकि दूसरोंके विरोध और कार्यकारणभावकी सिद्धि नहीं हो सकती।

विप्रकृष्टविषयानुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा संशयहेतुः प्रमाणनिवृत्तावप्यर्थाभावासिद्धेरिति।

संशयकी कारण विप्रकृष्टविषयानुपलब्धि (अदृश्यानुपलब्धि) प्रत्यक्ष अनुमानकी निवृत्ति (उसमें प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंकी गति नही है) लक्षण वाली है। (ज्ञानज्ञेयस्वभाव वोली है)। क्योंकि प्रमाणकी निवृत्ति होनेपर भी अर्थका अभाव असिद्ध ही है।

इति द्वितीयः परिच्छेदः।

तृतीय परिच्छेद ।

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम् ।

त्रिरूपलिङ्गका कहना परार्थानुमान है ।

कारणे कार्योपचारात् ।

क्योंकि यहाँ कारणमें कार्यका उपचार किया जाता है ।

(त्रिरूपलिङ्ग के कहने से त्रिरूपलिङ्गकी स्मृति उत्पन्न होती है । स्मृति से अनुमान होता है । अतएव त्रिरूपलिङ्ग का कहना अनुमान का परम्परासे कारण है । उस कारणवचनमें कार्यअनुमान का उपचार (समारोप) किया जाता है ।

सहकारी आदि होनेके कारणसे अतद्भाव (जो उस स्वरूप न हो) में तद्वत् (उसी स्वरूप के समान) के कहने को उपचार कहते हैं ।)

तद्द्विविधं प्रयोगभेदात् ।

परार्थानुमान के प्रयोग के भेद से दो भेद होते हैं—

साधर्म्यवद्वैधर्म्यवच्चेति ।

साधर्म्यवत् और वैधर्म्यवत् ।

नानयोरर्थतः कश्चिद्भेदोऽन्यत्र प्रयोगभेदात् ।

इन दोनोंमें भेद केवल प्रयोगसे ही है अर्थ से कुछ भी नहीं है ।

तत्र साधर्म्यवद्यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते

सोऽसद्व्यवहारविषयः सिद्धः ।

उसमें से साधर्म्यवत्—

जो उपलब्धिलक्षणप्राप्त होता हुआ भी उपलब्ध नहीं होता वह असद्व्यवहारका विषय होता है (अर्थात् उसका अभाव होता है) । यह सिद्ध है ।

यथान्यः कश्चिद्दृष्टः शशविषाणादिः[1] ।

जैसे खरहे के सींग आदि कोई अन्य (साध्यधर्मों से) दृष्ट (प्रमाण से निश्चित) है ।

[1] पाटर्सन संस्करण में 'शशविषाणादि' के पश्चात् विरामचिन्ह न देकर उसे अगले वाक्य में मिला कर '-विषाणादिर्नो॰-' कर दियाहै ।

नोपलभ्यते च क्वचित्प्रदेशविशेष उपलब्धि-
लक्षणप्राप्तो घट इति ।

[दृश्यानुपलम्भके पक्षधर्मत्वको दिखलाते हुए कहते हैं—]

किसी प्रदेशविशेष में उपलब्धिलक्षणप्राप्त घट उपलब्ध नहीं होता।

तथा स्वभावहेतोः प्रयोगः ।

यत्सत्तत्सर्वमनित्यं यथा घटादिरिति ।

तथा स्वभावहेतुका प्रयोग—

जो सत् होता है वह सब अनित्य होता है। जैसे—घट आदि।

शुद्धस्य स्वभावहेतोः प्रयोगः ।

यदुत्पत्तिमत्तदनित्यमिति ।

शुद्ध स्वभावहेतु का प्रयोग—

जो उत्पत्तिमान् होता है वह अनित्य होता है । (यह अर्थान्तरि-क्तविशेषणवाला प्रयोग है।)

स्वभावभूतधर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोगः ।

यत्कृतकं तदनित्यमित्युपाधिभेदेन ।

स्वभावभूतधर्मके भेद से स्वभाव का प्रयोग—

जो कृतक होता है वह अनित्य होता है ।

इस प्रकार उपाधिके भेदसे [स्वभावहेतु का प्रयोग कहा ।]

अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इति ।

जो वस्तु अपने स्वभावकी निष्पत्ति (उत्पत्ति) में दूसरी वस्तु के व्यापारकी आवश्यकता रखे उसे कृतक कहते हैं।

एवं प्रत्ययभेदभेदित्वादयो द्रष्टव्याः ।

उसी प्रकार प्रत्ययभेदिभेदित्व प्रयत्नानान्तरीयकत्व आदि भी समझलेने चाहियें ।

(जिसमें प्रत्यय अथवा कारणके भेदसे भेद निकाला जा सके उसे प्रत्ययभेदभेदी कहते हैं। नान्तरीयक व्याप्तको कहते है। अर्थात् जो जिसके रहनेपर रहे और न रहने पर न रहे उसे उससे व्याप्त या नान्तरीयक कहते हैं। जैसे सूर्य के होने पर मैदान में प्रकाश अवश्य होता है और उसके न होने पर नहीं होता। जो प्रयत्नसे व्याप्त होता है वह अनित्य होता है। जो प्रत्ययभेदभेदी होता है वह कृतक होता है।

सन्नुत्पत्तिमान्कृतको वा शब्द इति पक्षधर्मोपदर्शनम् ।

अथवा शब्द सत् उत्पत्तिमान् और कृतक है। इस प्रकार पक्षधर्म को दिखला दिया।

(धर्मी को पक्ष भी कहते हैं। यहां धर्मीशब्दमें पक्षके धर्म सत्त्व उत्पत्तिमत्त्व और कृतकत्व दिखलाये हैं। उनमें से सत्व वस्तु से बिलकुल अपृथक् होने से शुद्ध विशेषण है। उत्पत्तिमत्व से प्रगट होता है कि वस्तुमें उसके अन्दरही अन्दर कुछ परिवर्तन हुआ है। अतएव यह अव्यतिरिक्तविशेषण है। कृतकत्वसे प्रगट होता है कि करने वाला स्वयं वस्तुसे भिन्न है। अतः यह व्यतिरिक्त विशेषण है।)

(शङ्का) यह स्वभावहेतु सिद्धसम्बन्ध स्वभावके साध्यमें प्रयोग किये जाने चाहियें अथवा असिद्धसम्बन्धके ?

(उत्तर) सिद्धसम्बन्धमें प्रयोग किये जाने चाहियें। (यही दिखलाते हुए कहते हैं)

सर्वे एते साधनधर्मा यथास्वं प्रमाणैः सिद्धसाधनधर्ममात्रानुबन्ध एव साध्यधर्मेऽवगन्तव्याः ।

यह स्वभावहेतु (साधनधर्म) निश्चितसाधनधर्ममात्रानुबन्धिसाधनधर्म मे ही प्रयोग किये जाने चाहियें। अन्यत्र नहीं।

(गमक होनेसे साधन और पराश्रित होनेसे धर्म कहा जाता है। साधन धर्ममात्रसे अभिप्राय केवल साधनधर्मसे ही है। अनुबन्ध अन्वयव्याप्तिको कहते हैं। जैसे-धूम पावकानुबन्धि (अनुबन्धि-अनुबन्धवाला) है। जो अपने अनुरूप प्रमाणोंसे सिद्ध हो उसको यहां निश्चित कहा है। अतएव स्वभावहेतुका प्रयोग ऐसे निश्चितसाधनधर्ममात्रको अनुबन्ध करने वाले साधनधर्ममें ही किया जाना चाहिये।)

तत्स्वभावत्वात्स्वभावस्य च हेतुत्वात् ।

[क्योंकि जो साध्यधर्म साधनधर्ममात्रानुबन्धि है] वह ही उस साधनधर्मका स्वभाव है। और स्वभावही हेतु है।

[यद्यपि साध्यधर्म साधनका स्वभाव होता है, तथा साधन हेतु होता है तथापि साधन प्रतिज्ञार्थैकदेशहेतु नहीं हैं।]

(धर्म और धर्मी के समुदायको प्रतिज्ञा कहते हैं। एकदेश एक भाग को कहते हैं। यदि प्रतिज्ञा (धर्म और धर्मी) के ही किसी भाग को (धर्म या धर्मी को) हेतु बनाया जावेगा तो वह प्रयोग साध्यको

१ पीटर्सन संस्करण में यहाँ भी विराम न देकर इसको अगले वाक्य में मिला दिया है।

सिद्ध न कर सकनेके कारण से हेतु का एकदोष हो जाताहै। जैसे-'अग्नि उष्ण है; क्योंकि वह उष्ण है' में 'उष्णत्व' हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेशहेतु है।)

वस्तुतस्तयोस्तादात्म्यात्तन्निष्पत्तावनिष्पन्नस्य तत्स्वभावत्वाभावाद् व्यभिचारसंभवाच्च।

क्योंकि वास्तवमें साध्य और साधन का तादात्म्य होता है। और जो तन्निष्पत्तीमें अनिष्पन्न है(जो जिसका नियमसे कारण नही होता वह तन्निष्पत्ति(उसकी उत्पत्ति) मे अनिष्पन्न (उत्पन्न न होने वाला) होता है) वह उस स्वभाववाला नही होता और उसमे व्यभिचार भी आता है।

कार्यहेतोरपि प्रयोगः। यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसादावस्ति चेह धूम इति। इहापि सिद्ध एव।

कार्यहेतु का प्रयोग—

जहांपर धूम होता है वहां अग्नि होती है, जैसे पाकशाला आदिमें। उसी प्रकार यहाँ भी धूम है। इस वासते यहां भी अग्नि सिद्ध ही है।

कार्यकारणभावे कारणे साध्ये कार्यहेतुर्वक्तव्यः।

कार्यकारणभाव मे कारण के साध्य होनेपर कार्य को हेतु कहना चाहिये।

वैधर्म्यवतः प्रयोगो यत्सदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदुपलभ्यत एव। यथा नीलादिविशेषः। न चैवमिहोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य सत उपलब्धिर्घटस्येत्यनुपलब्धिप्रयोगः।

वैधर्म्यवत् का प्रयोग—

जो सत् और उपलब्धिलक्षणप्राप्त होता है वह अवश्य उपलब्ध होता है। जैसे-नील आदि विशेष। उसी प्रकार यहां उपलब्धिलक्षणप्राप्त सत् घट की उपलब्धि नहीं है। अतएव यह अनुपलब्धि प्रयोग है।

असत्यनित्यत्वे नास्ति सत्त्वमुत्पत्तिमत्त्वं कृतकत्वं वा।

अनित्यश्च शब्द उत्पत्तिमान्कृतको वेति स्वभावहेतोः प्रयोगः।

[स्वभावहेतुके वैधर्म्यप्रयोगको कहते हैं—]

असत्यग्नौ न भवत्येव धूमोऽत्र चास्तीति कार्यहेतोः प्रयोगः।

अग्निके न होने पर धूमभी नहीं होता, उसीप्रकार यहां है। (अर्थात अग्निके न होनेसे धूम नहीं है)। यह कार्यहेतु का प्रयोग है।

साधर्म्येणापि हि प्रयोगेऽर्थाद्वैधर्म्यगतिरिति । असति तस्मिन्साध्येन[1] हेतोरन्वयाभावात् ।

साधर्म्य (अन्वय) के प्रयोगमें वैधर्म्य (व्यतिरेक) अर्थात् ही आ जाता है। क्योंकि व्यतिरेकके अभावमें हेतुका साध्यसे अन्वय न होसकेगा।

(व्याप्तिके दो भेद हैं। एक अन्वयव्याप्ति, दूसरी व्यतिरेकव्याप्ति। एकके होने पर दूसरे का नियमसे होना अन्वय है। जैसे—धूमके सद्भावमें अग्निका सद्भाव अवश्य होनेके कारण धूमका अग्निके साथ अन्वय है। एकके न होने पर दूसरेका भी नियमसे न होना व्यतिरेक है। जैसे—अग्निके अभावमें धूम का अभाव।

तथा वैधर्म्येणाप्यन्वयगतिः। असति तस्मिन्साध्याभावे[2] हेत्वभावस्यासिद्धेः।

उसीप्रकार वैधर्म्य (व्यतिरेक) से भी अन्वय स्वयं ही आ जाता है। क्योंकि अन्वयके न होनेपर साध्यके अभावमें हेतुका अभाव भी सिद्ध न होगा।

न हि स्वभावप्रतिबन्धे सत्येकस्य निवृत्तावपरस्य नियमेन निवृत्तिः।

स्वभावप्रतिबन्धके होनेपर एककी निवृत्तिमें दूसरेकी निवृत्ति नियमसे नहीं होती।

स च द्विप्रकारः। सर्वस्य तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणश्चेत्युक्तम्।

वह स्वभावप्रतिबन्ध (सब प्रतिबद्धका) दो प्रकारका होता है—तादात्म्यलक्षण और तदुत्पत्तिलक्षण।

तेन हि निवृत्तिं कथयता प्रतिबन्धो दर्शनीयः।

[स्वभावप्रतिबन्ध होनेपर निवर्त्यनिवर्तकभावके होनेके कारण से] वह [साध्यकी निवृत्तिमें साधनकी] निवृत्तिको कहनेवाले [निवर्त्यनिवर्तकमें] प्रतिबन्धको देखे।

---

१. पीटर्सन संस्करण में 'साध्ये न' पाठ है। संस्कृत टीका में भी यही कर दिया गया है। किन्तु विचार करने से यह पाठ रखने पर अर्थ उलटा हो जाता है।

२. पीटर्सन संस्करण में [illegible] पाठ है। संस्कृत टीका में भी यही कर दिया गया है। किन्तु विचार करने से यह पाठ रखने पर अर्थ उलटा हो जाता है।

तस्मान्निवृत्तिवचनमाक्षिप्तप्रतिबन्धोपदर्शनमेव भवति ।

[साधनके साध्यमें प्रतिबद्ध होनेसे साध्यकी निवृत्ति होनेपर साधनकी निवृत्ति भी हो जाती है] अतएव [साध्यकी निवृत्तिमें साधनकी] निवृत्तिका कहना उस प्रतिबन्धका दिखलाना ही हो जाता है ।

यच्च प्रतिबन्धोपदर्शनं तदेवान्वयवचनमित्येकेनापि वाक्येनान्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा प्रयुक्तेन सपक्षासपक्षयोर्लिङ्गस्य सदसत्त्वख्यापनं कृतं भवतीति नावश्यवाक्यद्वयप्रयोगः ।

और वह प्रतिबन्धोपदर्शन ही (प्रतिबन्ध का दिखलाना ही) अन्वयवचन है । इस प्रकार प्रयोग किये हुए एक ही अन्वयमुख अथवा व्यतिरेकमुख वाक्यसे सपक्षमें लिङ्गका सत्त्व अथवा असत्त्व कहा जाता है, इस प्रकार दो वाक्योंके प्रयोगकी कोई आवश्यकता नहीं रहती ।

अनुपलब्धावपि यत्सदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं तदुपलभ्यत एवेत्युक्तेऽनुपलभ्यमानं तादृशमसदिति प्रतीतेरन्वयसिद्धिः ।

अनुपलब्धिमें भी 'जो उपलब्धिलक्षणप्राप्त है वह उपलब्ध होता ही है' ऐसा कहने पर उसी प्रकारका 'अनुपलभ्यमान (न मिलनेवाला) पदार्थ असत् है' ऐसी प्रतीति हो जानेसे अन्वयकी सिद्धि हो जाती है ।

द्वयोरप्यनयोः प्रयोगेऽवश्यं पक्षनिर्देशः ।

इन दोनों प्रयोगोंमें पक्षका निर्देश (कहना) अवश्य होना चाहिये ।

यस्मात्साधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते सोऽसद्व्यवहारविषयः ।

क्योंकि साधर्म्यवत् प्रयोगमें भी जो उपलब्धिलक्षणप्राप्त होता हुआ भी उपलब्ध नहीं होता वह असत् व्यवहारका विषय है ।

नोपलभ्यते चात्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इत्युक्ते सामर्थ्यादेव नेह घट इति भवति ।

'यहां उपलब्धिलक्षणप्राप्त घट नहीं है' ऐसा कहनेपर 'यहां घट नहीं है' यह सामर्थ्यसे ही आ जाता है ।

तथा वैधर्म्यवत्प्रयोगेऽपि 'यः सद्व्यवहारविषय उपलब्धि-लक्षणप्राप्तः स उपलभ्यत एव, न तथात्र तादृशो घट उपलभ्यत' इत्युक्ते सामर्थ्यादेव नेह सद्व्यवहारविषय इति भवति ।

उसीप्रकार वैधर्म्यवत् प्रयोगमें भी 'जो सद्व्यवहारका विषय और उपलब्धिलक्षणप्राप्त है वह उपलब्ध होता ही है इसीप्रकार यहां वैसा घट उपलब्ध नहीं है' यह कहनेपर सामर्थ्यसे ही 'यहां पर घट सद्व्यवहारका विषय नहीं है' यह हो जाता है ।

कीदृशः पुनः पक्ष इति निर्दिश्यः ।

'अब पक्ष कैसा होता है' यह कहा जाता है ।

स्वरूपेणैव स्वयमिष्टो[1]ऽनिराकृतः पक्ष इति ।

जो स्वरूपसे ही स्वयं इष्ट और अनिराकृत हो उसे पक्ष कहते हैं ।

स्वरूपेणेति साध्यत्वेनेष्टः । स्वरूपेणैवेति साध्यत्वेनेष्टो न साधनत्वेनापि ।

यथा शब्दस्यानित्यत्वे साध्ये चाक्षुषत्वं हेतुः ।

'स्वरूपसे इष्ट' शब्दसे पक्षको साध्य बतलाया है । स्वरूपसे ही साध्यरूपसे ही माना गया है साधनरूपसे भी नहीं माना गया ।

जैसे—शब्दकी अनित्यताको साध्य करनेमें चाक्षुषत्व (नेत्रसे उत्पन्न होना) हेतु देना ।

शब्देऽसिद्धत्वात्साध्यं न पुनस्तदिह साध्यत्वेनैवेष्टं साधनत्वेनाप्यभिधानात् ।

वह शब्दमें असिद्ध होनेसे साध्य है । उसको यहां केवल साध्य ही नहीं माना है । क्योंकि उसे साधन भी कहा है ।

'स्वयं' इस पदका समर्थन—

स्वयमिति वादिना यस्तदा साधनमाह । एतेन यद्यपि क्वचिच्छास्त्रे स्थितः साधनमाह[2] । तच्छास्त्रकारेण तस्मिन्धर्मिण्यनेकधर्माभ्युपगमेऽपि यस्तदा तेन वादिना धर्मः स्वयं साधयितुमिष्टः स एव साध्यो नेतर इत्युक्तं भवति ।

---

[1] पीटर्सन संस्करण का 'निराकृत' पाठ अशुद्ध है ।

[2] पीटर्सन संस्करण का 'स्थितसाधनमाह' पाठ हमारी सम्मति में अशुद्ध है ।

जो स्वयं वादीसे माना गया हो [पक्ष वही होगा]। जो वादके समयमें साधनको कहे उसे वादी कहते हैं, इससे यद्यपि वादी किसी शास्त्रमें स्थिर रहकर साधनको कहता है [तथापि] उस शास्त्रकारके उसधर्मीमें माने हुए अनेक धर्मोंमें से भी वादी जिस धर्मको साधना चाहे वही साध्य होता है, अन्य नहीं।

'इष्ट' पदकी सार्थकता—

इष्ट इति यत्रार्थे विवादेन साधनमुपन्यस्तं तस्य सिद्धिमिच्छता सोऽनुक्तोऽपि वचनेन साध्यस्तदधिकरणत्वाद्विवादस्य।

वादीने विवादके द्वारा सिद्ध करनेकी इच्छा रखते हुए जिस अर्थमें साधन दिया है वह अर्थ वचनसे न कहा जानेपर भी साध्य है, क्योंकि विवादका अधिकरण वही है।

यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयनासनाद्यङ्गवदिति[1]। अत्रात्मार्था इत्यनुक्तावप्यात्मार्थतानेनोक्तमात्रमेव साध्यमित्युक्तं भवति।

जैसे—चक्षु आदि परार्थ (दूसरेके वास्ते) हैं। क्योंकि वह शयन, आसन आदि अङ्गोंके समान संघातरूप हैं। यहां पर 'आत्मार्थ (आत्माके वास्ते)' यह न कहे जानेपर भी तात्पर्यसे निकलने वाली आत्मार्थता ही साध्य है, ऐसा कहा जाता है।

'अनिराकृत' इस पदका समर्थन—

अनिराकृत इति। एतल्लक्षणयोगेऽपि यः साधयितुमिष्टोऽप्यर्थः प्रत्यक्षानुमानप्रतीतिस्ववचनैर्निराक्रियते न स पक्ष इति प्रदर्शनार्थम्।

जिस अर्थको सिद्ध करना चाहते हैं उसमें उपरोक्त सब लक्षणोंके होनेपर भी यदि वह प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रतीति और स्ववचनसे निराकृत (निराकरणकिया हुआ) हो तो वह पक्ष नहीं हो सकता। [अनिराकृत पद] यह दिखलानेके लिये दिया गया है।

तत्र प्रत्यक्षनिराकृतो यथा—अश्रावणः शब्द इति।

प्रत्यक्षनिराकृत (जिसका प्रत्यक्ष प्रमाणसे निराकरण किया जावे)—

जैसे—शब्द कर्ण इन्द्रियका विषय नहीं है।

---

१ पीटर्सन सस्करण में यहां विराम चिन्ह नहीं है।

अनुमाननिराकृतो यथा—नित्यः शब्द इति ।

अनुमाननिराकृत—

जैसे—शब्द नित्य है ।

प्रतीतिनिराकृतो यथा—अचन्द्रः शशीति ।

प्रतीतिनिराकृत—

जैसे शशी चन्द्रशब्दका वाच्य नहीं है ।

स्ववचननिराकृतो यथा—नानुमानं प्रमाणम् ।

स्ववचननिराकृत—

जैसे—अनुमान प्रमाण नहीं है ।

एतदेव तु यद्यसत्यार्थमन्यान्यसत्यार्थानि न दर्शितानि भवन्ति ।

यदि इसीको असत्यार्थ कहें तो अन्य वचन असत्यार्थ नहीं कहे जा सकते ।

इति चत्वारः पक्षाभासा निराकृता भवन्ति ।

इस प्रकार चारों पक्षाभास निराकरण किये जाते हैं ।

सिद्धस्यासिद्धस्यापि साधनत्वेनाभिमतस्य स्वयं वादिना तदा साधयितुमनिष्टस्योक्तमात्रस्य निराकृतस्य च विपर्ययेण साध्यस्तेनैव स्वरूपेणाभिमतो वादिन इष्टोऽनिराकृतः पक्ष इति पक्षलक्षणमनवद्यं दर्शितं भवति ।

जो पदार्थ सिद्ध (विपरीतहेतुसे सिद्ध किया हुआ भी साध्य हो सकता है) अथवा असिद्ध भी साधनरूपसे माना गया हो, तथा स्वयं वादीको अनिष्ट न हो और उपरोक्त प्रत्यक्ष आदि निराकृतोंसे विपरीत हो तथा वादीके द्वारा साध्य माना गया हो, तथा जो इष्ट और अनिराकृत हो वह पक्ष होता है । यह पक्षका निर्दोष लक्षण है ।

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमित्युक्तम् ।

इस प्रकार त्रिरूपलिङ्गका अभिधान रूप परार्थानुमान कहा गया ।

तत्र त्रयाणां रूपाणामेकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः । उक्तावप्यसिद्धौ संदेहे वा ।

---

१ पीटर्सन संस्करण का 'निराकृत' पाठ अशुद्ध है ।

२ पी० स० में यहाँ विराम न होने से हेत्वाभास सामान्य और असिद्ध हेत्वाभास का लक्षण निकालने में बडी कठिनता पडती है ।

तीनो रूपोंमेंसे एकके भी न कहनेसे साधनाभास या हेत्वाभास हो जाता है। [अथवा तीनों रूपोंके] कहे जानेपर भी हेतुके असिद्ध होने या उसमें संदेह होनेसे ही हेत्वाभास हो जाता है।

प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरेकस्य रूपस्य धर्मिसम्बन्धस्यासिद्धौ संदेहे चासिद्धो हेत्वाभासः।

प्रतिपाद्य और प्रतिपादकमेंसे धर्मीसम्बन्धी एकरूप (पक्षधर्मत्व)के सिद्ध न होनेपर अथवा उसमें संदेह होनेपर असिद्ध-हेत्वाभास होता है।

यथा अनित्यः शब्द इति साध्ये चाक्षुषत्वमुभयासिद्धम्।

जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह चाक्षुष (चक्षुका विषय) है' में चाक्षुषत्व हेतु उभयासिद्ध है। (जो वादी और प्रतिवादी दोनो के लिये असिद्ध हो उसे उभयासिद्ध कहते है)।

चेतनास्तरव इति साध्ये सर्वत्वगपहरणे मरणं प्रतिवाद्यसिद्धं विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य मरणस्यानेनाभ्युपगमात्तस्य च तरुष्वसम्भवात्।

'वृक्ष सजीव होते है, क्योंकि वह सब छालके उतर जाने पर मर जाते है (सूख जाते है)। इसमें वृक्षका सब छालके उतर जाने पर मरजाना प्रतिवादी (बौद्ध) को असिद्ध है। [अतः यह प्रतिवाद्यसिद्ध हेत्वाभास ह।] क्योंकि बौद्धदर्शन विज्ञान, इन्द्रिय और आयुके निरोध होनेको ही मरण मानता है, जिसका होना वृक्षोंमें असम्भव है।

अचेतनाः सुखादय इति साध्य उत्पत्तिमत्त्वमनित्यं वा सांख्यस्य स्वयं वादिनोऽसिद्धम्।

'सुख आदि अचेतन है, क्योंकि वह उत्पत्तिमान् अथवा अनित्य है' इसमें उत्पत्तिमत्व अथवा अनित्यत्व स्वयं वादी अर्थात् सांख्यको ही असिद्ध है। [अतः यह हेतु वाद्यसिद्ध है।]

तथा स्वयं तदाश्रयणस्य वा संदेहेऽसिद्धः।

तथा स्वयं उस साध्यधर्मीके संदिग्ध होनेसे हेतु संदिग्धासिद्ध भी है।

[अपने आप संदेह किये हुएका उदाहरण—]

यथा बाष्पादिभावेन संदिह्यमानो भूतसंघातोऽग्निसिद्धावुपदिश्यमानः संदिग्धासिद्धः।

जैसे—बाष्प आदि भावसे सन्देह किया हुआ पृथ्वी आदिका समूह अग्निकी सिद्धिके लिये ग्रहण किये जानेपर संदिग्धासिद्ध है। (कहीं दूरपर धूल आदिको उड़ती हुई देखकर उसको धूम समझकर उससे अग्निको सिद्ध करने लगनेसे अभिप्राय है।)

[आश्रयासिद्धका उदाहरण] —

यथेह निकुञ्जे मयूरः केकायितादिति।
तदापातदेशविभ्रमे।

जैसे—इस निकुञ्जमें मोर है। क्योंकि इधरसे ही मोरका शब्द आ रहा है। उस शब्दके आनेके स्थानमें विभ्रम हो सकनेसे यह *आश्रयणासिद्ध* है।

धर्म्यसिद्धावप्यसिद्धो यथा सर्वगत आत्मेति साध्ये सर्वत्रोपलभमानगुणत्वम्।

धर्मीके सिद्ध होनेपर भी असिद्ध—

जैसे—'आत्मा सर्वगत (सर्वत्रव्याप्त) है' इस साध्यमें सर्वत्र उपलब्धहोनेका गुण असिद्ध है।

तथैकस्य रूपस्यासपक्षेऽसत्त्वस्या[१]सिद्धावनैकान्तिको हेत्वाभासः।

तथा एकरूप (असपक्षमें असत्त्व) की असिद्धिमें अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है।

यथा शब्दस्यानित्यत्वादिके धर्मे साध्ये प्रमेयत्वादिको धर्मः सपक्षविपक्षयोः।

जैसे—शब्दके अनित्यत्व आदि धर्मके साध्यमें प्रमेयत्व आदि धर्म सपक्ष और विपक्ष दोनोंमें रहते हैं।

सर्वत्रैकदेशे वा वर्तमानस्तथास्यैव रूपस्य संदेहेऽप्यनैकान्तिक एव।

अथवा सर्वत्र या एकदेशमें रहने वाले इसी रूप (असपक्षमें असत्त्व) के संदेहमें भी अनैकान्तिक ही है।

---

१ पी० म० का 'सत्वस्य' पाठ अशुद्ध है।

यथाऽसर्वज्ञः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो रागादिमान्वेति साध्ये वक्तृत्वादिको धर्मः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकः। सर्वत्रैकदेशे वा सर्वज्ञो वक्ता नोपलभ्यते इति।

जैसे—'कोई विवक्षित पुरुष सर्वज्ञ अथवा रागादिमान् है' इस साध्यमें वक्तृत्व आदिधर्म संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिवाले हैं। [क्योंकि] सर्वज्ञवक्ता सर्वत्र अथवा एकदेशमें कहीं भी उपलब्ध नही है।

एवं प्रकारस्यानुपलम्भस्यादृश्यात्मविषयत्वेन संदेह हेतुत्वात्।

क्योंकि अदृश्यात्मविषय वाला (जिसका विषय अदृश्यात्मा है) अनुपलम्भ संदेहमें कारण है।

असर्वज्ञविपर्ययाद्वक्तृत्वादेर्व्यावृत्तिः संदिग्धा। वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्विरोधाभावाच्च।

असर्वज्ञका विपर्यय होनेसे वक्तृत्व आदिकी व्यावृत्ति संदिग्ध है [निश्चय नही है।] क्योंकि सर्वज्ञत्व और वक्तृत्वमें विरोधाभाव भी है।

[व्याप्तिमान् व्यतिरेकको बतलाते है—]

यः सर्वज्ञः स वक्ता न भवतीत्यदर्शनेऽपि व्यतिरेको न सिध्यति, सन्देहात्[1]।

जो सर्वज्ञ होता है वह वक्ता नहीं होता। इस प्रकार सर्वज्ञवक्ता के न देखे जाने पर भी व्यतिरेक सिद्ध नही होता। क्योंकि उसमें सन्देह है।

द्विविधो हि पदार्थानां विरोधः।

पदार्थोंका विरोध दो ही प्रकारका होता है। [जिनमेंसे प्रथम विरोध दिखलाया जाता है —]

अविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावः।

अविकल (सम्पूर्ण) कारणवाले (जिसके सब कारण उपस्थित हों) विद्यमान पदार्थका अन्यभाव होना (विद्यमानसे अन्यभाव अर्थात् अभाव होना।)

अभावाद्विरोधगतिः।

---

१ पी० म० मे 'संदेहात' के पश्चात विरामचिन्ह न देकर उसकी अगले वाक्य मे सन्धि करदी है, जिससे उसका अर्थ कुछ नहीं बनता।

अभावसे ही विरोध चल सकता है।

शीतोष्णस्पर्शवत्‌ ।

जैसे—शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श का विरोध है।

अब दूसरे विरोधको दिखलाते हैं—

परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया वा भाववत्‌ ।

परस्परपरिहारस्थितलक्षणतासे भावके समान विरोध है। (जो एक दूसरेका परिहार करके अथवा उसका अभाव करके स्थित हों वह वस्तुएं परस्परपरिहारस्थितलक्षण वाली है। जैसे-भाव और अभाव।)

स च द्विविधोऽपि विरोधो वक्तृत्वसर्वज्ञत्वयोर्न सम्भवति ।

वह दोनो ही प्रकारका विरोध वक्तृत्व और सर्वज्ञत्वमें संभव नही है।

न चाविरुद्धविधेरनुपलब्धावप्यभावगतिः । रागादीनां वचनादेश्च कार्यकारणभावासिद्धेः ।

अविरुद्धविधिकी अनुपलब्धिमें भी अभाव नही हो सकता। क्योंकि राग आदिकी और वचन आदिका कार्यकारणभाव असिद्ध है।

अर्थान्तरस्य वा कारणस्य निवृत्तौ न वचनादेर्निवृत्तिरिति संदिग्धव्यतिरेकोऽनैकान्तिको वचनादिः ।

अथवा अर्थान्तरकारणकी निवृत्तिमें (सहचारिके दर्शनमात्रसे) वचन आदि की निवृत्ति नहीं होती। अतएव सर्वज्ञमें वचन आदि संदिग्धव्यतिरेक अनैकान्तिक है।

द्वयो रूपयोर्विपर्ययसिद्धौ विरुद्धः ।

दो रूपोंके विरुद्ध सिद्ध हो जानेपर विरुद्ध हेत्वाभास होता है।

कयोर्द्वयोः ? सपक्षे सत्वस्यासपक्षे चासत्वस्य । यथा-

कृतकत्वं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं च नित्यत्वे साध्ये

विरुद्धो हेत्वाभासः ।

किन दो के ? सपक्षमें सत्त्व और असपक्षमें असत्त्व के।

जैसे—नित्यत्वके सिद्ध करनेमें कृतकत्व और प्रयत्नानान्तरीयकत्व विरुद्ध हेत्वाभास हैं।

(पी॰ म॰ का सपक्षे पाठ ठीक नहीं है।

अनयोः सपक्षेऽसत्त्वमसपक्षे च सत्त्वमिति विपर्ययसिद्धिः ।

इन दोनोंके सपक्षमें न रहने और असपक्षमें रहनेसे विपर्ययकी सिद्धि होती है ।

एतौ च साध्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धौ ।

यह दोनों साध्य (नित्यत्व) के विपरीत (अनित्यत्व) का साधन करनेसे विरुद्ध हैं ।

तत्र च तृतीयोऽपीष्टविघातकृद्विरुद्धः ।

एक तीसरा इष्टविघातकृत् विरुद्ध भी है ।

यथा परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वाच्छयना-
शनाद्यङ्गवदिति ।

जैसे—चक्षु आदि परार्थ है । क्योंकि वह शयन, आसन आदि पुरुषके उपभोगके अंगोंके समान संघात (परमाणुसंचितिरूप) हैं ।

तदिष्टासंहतपारार्थ्यविपर्ययसाधनाद्विरुद्धः ।

वह [वादी सांख्यके] इष्ट असंहत (विषय) की परार्थताके विपरीत को साधन करनेसे विरुद्ध है ।

स इह कस्मान्नोक्तः ?

यह यहां क्यों नहीं कहा गया ?

अनयोरेवान्तर्भावात् ।

क्योंकि उसका इन दोनोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

न ह्यवमाभ्यां साध्यविपर्ययसाधनत्वेन भिद्यते ।

क्योंकि यह इष्टविघातकृत् इन दोनो हेतुओंसे साध्यविपर्ययसाधनताकी अपेक्षा भिन्न नहीं है ।

न हीष्टोक्तयोः साध्यत्वेन कश्चिद्विशेषः इति द्वयो रूपयोरेकस्यासिद्धावपरस्य च संदेहेऽनैकान्तिकः ।

क्योंकि इष्ट और उक्तमें [एक दूसरेका साध्य होनेसे] कोई विशेष नहीं है । अतएव दो रूपोंमेंसे एकके असिद्ध होने तथा दूसरेके संदिग्ध होनेसे अनैकान्तिकता आती है ।

यथा वीतरागः कश्चित्सर्वज्ञो वा वक्तृत्वादिति ।

व्यतिरेकोऽत्रासिद्धः । संदिग्धोऽन्वयः ।

जैसे—कोई वीतराग अथवा सर्वज्ञ है, क्योंकि वह वक्ता है। यहाँ पर व्यतिरेक असिद्ध और अन्वय संदिग्ध है।

सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकर्षाद्वचनादेस्तत्र सत्त्वमसत्त्वं वा संदिग्धमनयोरेव द्वयो रूपयोः संदेहेऽनैकान्तिकः।

सर्वज्ञ और वीतरागके विप्रकर्ष (दूर) होनेसे वहां वचन आदिका होना या न होना संदिग्ध है। अतएव इन दोनों रूपोंमें संदेह होनेसे वक्तृत्व हेतु अनैकान्तिक है।

सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति।

जैसे—जीवित शरीर आत्मासहित है, क्योंकि उसमें प्राण आदि हैं।

न हि सात्मकनिरात्मकाभ्यामन्यो राशिरस्ति।
यत्र प्राणादिर्वर्तेत।

सात्मक और निरात्मकसे भिन्न ऐसी कोई राशि नहीं है जहां प्राण आदि हों।

आत्मनो वृत्तिव्यवच्छेदाभ्यां सर्वसंग्रहात्।

आत्माके सद्भाव और अभावसे सबका संग्रह करनेसे [अन्यराशिका अभाव है।]

नाप्यनयोरेकत्र वृत्तिनिश्चयः।

इन दोनों [सात्मक और निरात्मक] में एक स्थानमें सद्भावका निश्चय नहीं है।

सात्मकत्वेन निरात्मकत्वेन वा प्रसिद्धे प्राणादेरसिद्धिः।

क्योंकि सात्मक अथवा निरात्मक रूपसे प्रसिद्ध होनेसे प्राण आदिकी असिद्धि हो जायेगी।

तस्माज्जीवच्छरीरसम्बन्धी प्राणादिः।

अतएव प्राण आदि जीवितशरीर सम्बन्धी हैं।

सात्मकादनात्मकाच्च सर्वस्माद्व्यावृत्तत्वेनासिद्धेः।

क्योंकि सात्मक और निरात्मक सबसे व्यावृत्त होनेसे असिद्ध है।

ताभ्यां न व्यतिरिच्यते न तत्रान्वेति।

उसका न तो उन दोनोंसे व्यतिरेक और न अन्वय ही है। क्योंकि वह (दोनों) एक आत्मामें भी सिद्ध नहीं हो सकते।

एकात्मन्यप्यसिद्धेः ।

नापि सात्मकान्निरात्मकाच्च तस्यान्वयव्यतिरे-

कयोरभावनिश्चयः ।

सात्मक और निरात्मकसे भी उसके अन्वय और व्यतिरेकके अभावका निश्चय नहीं होता ।

एकाभावनिश्चयस्यापराभावनान्तरीयकत्वात् ।

क्योंकि एक के अभावका निश्चय दूसरेके अभावके निश्चय का अव्यभिचारी होता है ।

अन्वयव्यतिरेकयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वात् ।

क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक अन्योन्यव्यवच्छेद रूप हैं ।

अत एवान्वयव्यतिरेकयोः सन्देहादनैकान्तिकः ।

अतएव अन्वय और व्यतिरेकमें सन्देह होनेसे अनैकान्तिक है ।

साध्येतरयोरतो निश्चयाभावात् ।

क्योंकि इससे साध्य और उसके विरोधीके निश्चयका अभाव है ।

एवं त्रयाणां रूपाणामेकैकस्य द्वयोर्द्वयोर्वा रूपयोरसिद्धौ संदेहे च यथायोगमसिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ।

इसप्रकार तीनों रूपोंमें से एक २ अथवा दो २ रूपों के असिद्ध अथवा सन्दिग्ध होने पर यथायोग असिद्ध विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास होते हैं ।

विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः । स इह कस्मान्नोक्तः ?

(शंका) विरुद्धाव्यभिचारी भी संशयका कारण कहा गया है । उसको यह क्यों नहीं कहा ?

(जो हेत्वन्तरसे सिद्ध किये हुए के विरुद्ध होता है वह व्यभिचारको प्राप्त नहीं होता । वही विरुद्धाव्यभिचारी है । अथवा जो विरुद्ध होते हुए अन्य साधनसे सिद्ध किये हुए धर्मके विरुद्ध साधन करनेसे व्यभिचारी हो वह अपने साध्यसे व्यभिचरित न होनेसे विरुद्धाव्यभिचारी होता है । जैसे हेत्वन्तर धूमसे सिद्ध किये हुए अग्नि युक्त पर्वत के जल युक्त तालाब विरुद्ध है । अतएव तालाब पर्वत में व्यभिचरित नहीं हो सकता । अथवा जो विरुद्ध होते हुए अन्य साधन धूम से सिद्ध किये हुए धर्म अग्नि के विरुद्ध जल को सिद्ध न करनेसे

उसमें अव्यभिचारी हो वह अपने साध्यसे व्यभिचरित न होनेसे विरुद्धाव्यभिचारी है।)

अनुमानविषयेऽसंभवात् ।

(उत्तर) अनुमान के विषय (त्रैरूप्य) में असम्भव होनेसे उसका कथन यहाँ नही किया गया।

न हि संभवोऽस्ति कार्यस्वभावयोरुक्तलक्षणयोरनुपलम्भस्य च विरुद्धतायाः । न चान्योऽव्यभिचारी ।

क्योंकि उक्त लक्षण (त्रैरूप्य) वाले कार्य, स्वभाव और अनुपलम्भ की विरुद्धता सम्भव नही है। और [उनसे भिन्न] अन्य कोई अव्यभिचारी भी नही है, [अतएव उन्हीमें हेतुता है।]

[तब आचार्य दिङ्नागने इस हेतुदोषको किस स्थल पर कहा है ? इसके लिये कहते हैं—]

तस्मादवस्तुदर्शनबलप्रवृत्तमागमाश्रयमनुमानमाश्रित्य तदर्थविचारेषु विरुद्धाव्यभिचारी साधनदोष उक्तः ।

अवस्तु के दर्शन के बलसे प्रवृत्त हुए आगमाश्रय अनुमानका आश्रय लेकर उसके अर्थके विचारोंमें विरुद्धाव्यभिचारी साधन दोष कहा है।

शास्त्रकाराणामर्थेषु भ्रान्त्या विपरीतस्य स्वभावोपसंहारसंभवात् ।

क्योंकि अर्थमें भ्रान्ति हो जानेसे शास्त्रकारोंका विपरीतको स्वभाव कह देना सम्भव है।

न ह्यस्य सम्भवो यथावस्थितवस्तुस्थितिष्वात्मकार्येष्वनुपलम्भेषु ।

यह यथावस्थितवस्तुकी स्थिति और आत्मकार्योंके उपलम्भ में सम्भव नही है।

तत्रोदाहरणं यत्सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिः सम्बध्यते तत्सर्वगतं यथाकाशमभिसंबध्यते सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर्युगपत्सामान्यमिति ।

इसका उदाहरण—जो सर्वदेशावस्थित (सब स्थानों में रहने वाले) अपने सम्बन्धियों से सम्बन्धित होता है वह सर्वगत है। जैसे—आकाश सर्वदेशावस्थित स्वसम्बन्धियों से एक साथ सामान्य ही सम्बन्धित होता है।

तत्संबन्धिस्वभावमात्रानुबन्धिनी तद्देशसंनिहितस्वभावता ।

तद्देशसंनिहितस्वभावता तत्सम्बन्धिस्वभावमात्रको कारण करने वाली है ।

न हि यो यत्र नास्ति स तद्देशमात्मना व्याप्नोतीति स्वभावहेतुप्रयोगः ।

'जो जहाँ पर नही है वह उस प्रदेशको अपने द्वारा व्याप्त भी नहीं करता' यह स्वभावहेतु का प्रयोग है ।

द्वितीयोऽपि प्रयोगो यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते न तत्तत्रास्ति । तद्यथा- कचिदविद्यमानो घटः ।

दूसरा प्रयोग–जो उपलब्धि लक्षण प्राप्त होता हुआ भी उपलब्ध नही होता वह वहाँ पर नही है । जैसे—कहीं अविद्यमान घट ।

नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेष्विति ।

व्यक्तियों के अन्तराल मे उपलब्धिलक्षण प्राप्त सामान्य उपलब्ध नहीं होता ।

अयमनुपलम्भप्रयोगः स्वभावश्च परस्परविरुद्धार्थसाधनादेकत्र संशयं जनयतः ।

यह अनुपलम्भप्रयोग और स्वभाव परस्पर विरुद्ध अर्थको साधन करने से एक स्थान मे संशय को उत्पन्न करते है ।

त्रिरूपो हेतुरुक्तः ।

इस प्रकार त्रिरूप हेतु कह दिया ।

तावतैवार्थप्रतीतिः न पृथग्दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित् । तेन नास्य लक्षणं पृथगुच्यते.

गतार्थत्वात् ।

उतनेसे ही अर्थकी प्रतीति हो जानेसे दृष्टान्त नामवाला कोई पृथक् अवयव साधन में नही है । इस वासते उसका लक्षण प्रथक् नही कहा [क्योंकि उतने से ही] अर्थ विदित हो जाता है ।

हेतोः सपक्ष एव सत्त्वमसपक्षाच्च सर्वतो व्यावृत्तो रूपमुक्त-

१ पी० स० मे 'न' नही है । डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण के लेखसे विदित होता है कि न्यायबिन्दु के तिब्बती भाषा के अनुवाद में 'न' है । हमारी सम्मति मे भी यहाँ इसका होना आवश्यक है ।

मभेदेन पुनर्विशेषेण कार्यस्वभावयोर्जन्मत-
न्मात्रानुबन्धौ दर्शनीयावुक्तौ ।

क्योंकि हेतु का सपक्ष में ही रहना और सब विपक्षोका उससे शून्य रहना के दोनो रूप कह दिये । विशेष अभेदसे कार्य जन्म [ज्ञातव्य] और स्वभाव का तन्मात्रानुबन्ध दर्शनीय कह दिया ।

तच्च दर्शयता यत्र धूमस्तत्राग्निरसत्यग्नौ न क्वचि-
द्धूमो यथा महानसेतरयोः ।

उसको दिखलाते हुए 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है। अग्नि के अभाव में धूम भी नहीं होता । जैसे पाकशाला और तालाब मे ।'

यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वमनित्यत्वाभावे कृतकत्वासंभवो
यथा घटाकाशयोरिति दर्शनीयम् ।

जहाँ कृतकत्व होता है वहाँ अनित्यत्व होता है । अनित्यत्व के अभाव में कृतकत्व असम्भव है । जैसे घट और आकाश में । यह सब देखना चाहिए ।

न ह्यन्यथा सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वे यथोक्त-
प्रकारे शक्ये दर्शयितुम् ।
तत्कार्यतानियमः कार्यलिङ्गस्य स्वभावलिङ्गस्य
च स्वभावेन व्याप्तिः ।

क्योंकि अन्यथा यथोक्तप्रकार के सपक्ष और विपक्षमे सत्व और असत्व और कार्य लिङ्ग का तत्कार्यतानियम और स्वभाव लिङ्ग की स्वभाव से व्याप्ति नहीं दिखलायी जा सकती ।

अस्मिंश्चार्थे दर्शिते दर्शित एव दृष्टान्तो भवति ।

इस अर्थ के समझ जाने पर दृष्टान्त समझ में आ ही जाता है ।

एतावन्मात्ररूपत्वात्तस्येति ।

क्योंकि वह केवल उतना ही है ।

एतेनैव दृष्टान्तदोषा अपि निरस्ता भवन्ति ।

इससे ही दृष्टान्तदोषों का भी निराकरण हो जाता है ।

यथा-नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् , कर्मवत्परमाणुवद्घटवदिति ।

जैसे—शब्द नित्य है, क्योंकि वह कर्म, परमाणु, और घटके समा-

न अमूर्त है।

साध्यसाधनधर्मोभयविकलास्तथा सन्दिग्धसाध्यधर्मादयश्च।

साध्यधर्मविकल साधनधर्मविकल, उभयविकल, तथा सन्दिग्धसाध्यधर्म आदि (सन्दिग्धसाधनधर्म तथा सन्दिग्धोभय) [दृष्टान्त दोष हैं]। (इनमें से कर्म साध्यविकल, परमाणु साधनविकल और घट उभयविकल दृष्टान्त हैं।)

यथा रागादिमानयं वचनाद्रथ्यापुरुषवत्।

जैसे—यह राग आदि से युक्त है, क्योंकि मार्गमें चलनेवाले पुरुषके समान बोलता है (यह संदिग्धसाध्यधर्म का उदाहरण है।)

मरणधर्मोऽयं पुरुषो रागादिमत्त्वाद्रथ्यापुरुषवत्।

यह पुरुष मरणधर्मवाला है, क्योंकि यह मार्ग में चलने वालों के समान रागादिमान् है। (यह संदिग्धसाधनधर्म दृष्टान्त है।)

असर्वज्ञोऽयं रागादिमत्त्वाद्रथ्यापुरुषवदिति।

यह असर्वज्ञ है क्योंकि यह रथ्यापुरुष (मार्ग में चलने वाले पुरुष) के समान रागादिमान् है। (यह सन्दिग्धोभय दृष्टान्त है।

अनन्वयोऽप्रदर्शितान्वयश्च।

अनन्वय और अप्रदर्शितान्वय भी [दृष्टान्त दोष हैं।]

(जिस दृष्टान्तमें साध्य और साधनमें सम्भवता ही दिखलाई दे किन्तु साध्यसे व्याप्त न हो वह अनन्वय है। जिस दृष्टान्त में अन्वय के होते हुए भी उसे कहने वाले ने दिखलाया न हो उसे अप्रदर्शितान्वय कहते हैं।)

यथा यो वक्ता स रागादिमानिष्टपुरुषवत्।

जैसे—जो वक्ता होता है वह इष्ट पुरुष के समान रागादिमान् होता है। (यह अनन्वय का उदाहरण है।)

अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद्घटवदिति।

शब्द अनित्य है। क्योंकि वह घटके समान कृतक होता है। (यह अप्रदर्शितान्वय का उदाहरण है।)

तथा विपरीतान्वयः।

तथा विपरीतान्वय—

यदनित्यं तत्कृतकम्।

जो अनित्य होता है वह कृतक होता है।

अप्रदर्शितव्यतिरेको यथा—अनित्यः शब्दः
कृतकत्वदाकाशवदिति ।

अप्रदर्शितव्यतिरेक—

जैसे-शब्द अनित्य है; क्योंकि वह आकाश के समान कृतक है।

वैधर्म्येणापि विपरीतव्यतिरेको यथा यदकृतकं तन्नित्यं भवतीति।

वैधर्म्यसे भी विपरीतव्यतिरेक—

जो कृतक नहीं होता वह नित्य होता है।

न ह्येभिर्दृष्टान्ताभासैर्हेतोः सामान्यलक्षणं सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षे च सर्वत्रासत्त्वमेव निश्चयेन शक्यं दर्शयितुं विशेषलक्षणं वा।

इन दृष्टान्ताभासों से हेतुका सामान्यलक्षण, सपक्षमें ही रहना और विपक्षमें सर्वत्र अभाव अथवा विशेषलक्षणको निश्चय रूपसे दिखला ही नहीं सकते।

तदर्थापत्त्यैषां निरासो वेदितव्यः।

अतएव उनका निरकरण अर्थापत्ति (सामर्थ्य) से ही जान लेना चाहिये।

दूषणा न्यूनताद्युक्तिः।

न्यूनता का कहना दूषणा है।

ये पूर्वं न्यूनतादयः साधनदोषा उक्तास्तेषामुद्भावनं दूषणम्।

जो पहिले न्यूनता आदि साधनदोष कहे हैं उनका कहना दूषण है।

तेन परेष्टार्थसिद्धिप्रतिबन्धात्।

क्योंकि उससे दूसरेके इष्ट अर्थ की सिद्धिमें रुकावट होती है।

दूषणाभासास्तु जातयः।

दूषणाभास जातियाँ है।

अभूत[1]दोषोद्भावनानि जात्युत्तराणीति।

अभूत दोषका प्रकट करना जात्युत्तर है।

इति तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः।

न्यायबिन्दुः समाप्तः।

इति तृतीय परिच्छेद समाप्त।

न्यायबिन्दु समाप्त।

---

१ मुद्रित पुस्तक में 'अनुभूत०' पाठ है। किन्तु टीका से हमारे ही पाठ की पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त पहिले पाठ से अर्थ भी ठीक नहीं बैठता।

टिप्पण्यनुगतसटीकन्यायबिन्दोः

शुद्धिपत्रम् ।

पृ०	पं०	अशुद्धयः	शुद्धयः
१	१५	प्रसवेइत्योते	प्रसवे इत्योते
१	१८	०तस्मिननना०	०तस्मिन्नना०
२	१२	बुद्ध परमेश्वस्या०	बुद्धः परमेश्वरस्या०
२	१५	काश्चिच्छु०	कांश्चिच्छु०
३	६	सम्वन्ध०	सम्बन्ध०
३	२४	पठान्तरम्	पाठान्तरं
४	१३	निवृत्यङ्गम	निवृत्यङ्गम्
४	२२	'इदमि' ति पदं ख	'इदम्' इति पदं ख०
५	११	प्राययत्सं०	प्रापयत्स०
५	१४	हटात्	हठात्
१०	२४	मुद्रिनपुस्तकस्य	मुद्रितपुस्तकस्य
१२	८	०मर्क्षक्रिया०	०मर्थक्रिया०
१२	१९	वृक्षवाप्तिः।	वृक्षावाप्तिः।
१३	५	न त्ववि०	अपि त्ववि०
१४	२५	०ससृयोः।	संसृष्टयोः।
१५	७	सन्निहि	सन्निहि-
१५	१०	एब	एव
१५	१०	०विकल्प	०विकल्प-
१५	१४	०दभिसाप०	०दभिलाप०
१५	१५	०ग्राही।	ग्राहि।
१६	४	कल्पनपा	कल्पनया
१६	१३	०गृहणे न	०गृहणेन
१७	१४-१६	इन्द्रियज्ञानं। स्वविष............जनितं तत्। इन्द्रियस्य ज्ञानमिन्द्रियज्ञानम्।	इन्द्रियज्ञानम्। इन्द्रियस्य ज्ञानमिन्द्रियज्ञानम्।
१७	१६-१७	यत्तत्प्रत्यक्षम। मानस-प्रत्यक्षे	यत्तत्प्रत्यक्षम्। मानसप्रत्यक्षे
१७	१८	०त्यक्षलणमाह। स्व आत्मी०	०त्यक्षलक्षणमाह—

शुद्धिपत्रम् ।

पृ०	पं०	अशुद्धयः	शुद्धयः
		यो विषय	स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम् । स्व आत्मीयो विषय-
१८	१२-१४	तेन जनितम् । मनोविज्ञानम् । तद्नेनैकसन्तानान्त०	तेन जनितम । तद्नेनैकसन्तानान्त०
१८	१७	गृहीतगृहणा०	ग्रहीतग्रहणा०
१९	१०	सर्वं चित्त०	सर्वाचित्त०
१९	१३	०निवृत्यर्थं-	०निवृत्यर्थं
१९	२०	मते प्रत्येकं वस्तु	मते वस्तु
२२	१६	जनि वं	जनितत्वं
२२	२०	विषयेऽपि	विषयेऽपि
२३	४	प्रतिभासेभदः	प्रतिभासभेदः
२३	११	स्फुटनि	स्फुटानि
२३	२०	०त्वाद्वस्तुन :।	०त्वाद्वस्तुनः ।
२४	१४	०प्रातिज्ञासं	०प्रातिभासं
२४	१९	सकलबौद्धसाधा०	सकलवह्निसाधा०
२४	२५	ततस्तत्समान्य०	ततस्तत्सामान्य०
२७	१३	०रूपत्वना०	०रूपत्वेना०
३२	२४	यद्यप्यमरकोशे	यद्यप्यमरकोषे
३३		प्रथमपरिच्छेदः	द्वितीयपरिच्छेदः
३४	११	साध्य धर्मश्चासौ	साध्यधर्मश्चासौ
३५		प्रथमपरिच्छेदः	द्वितीयपरिच्छेदः
३६	२२	०विशषश्च	०विशेषश्च
३७		प्रथमपरिच्छेदः	द्वितीयपरिच्छेदः
४१		,,	,,
४१	९	साध्यसाध नयोः	साध्यसाधनयोः
४२	४	सधनं	साधनं
४२	६	०र्विषयस्तु	०विषयस्तु
४२	९	साध्यदर्था०	साध्यादर्था०
४२	११	०प्रातबन्धो	०प्रतिबन्धो

पृ०	पं०	अशुद्धयः	शुद्धयः
४२	२०	निामत्तत्	निमित्तात्
४३		प्रथमपरिच्छेद.	द्वितीयपरिच्छेदः
४३	३	भवेतु	भवतु
४५		प्रथमपरिच्छेदः	द्वितीयपरिच्छेदः
४६	१५	यस्मा	यस्मा–
४९		प्रथमपरिच्छेद.	द्वितीयपरिच्छेदः
५१		,,	,,
५२	९	कार्यविरूद्धो०	कार्यविरुद्धो०
५३		प्रथमपरिच्छेदः	द्वितीयपरिच्छेदः
५६	६	स्वभानुपलब्धि०	स्वभावानुप-लब्धि०
५८	२१	०भावाभावासिद्धेः	०भावासिद्धेः
५९	२०	तद्नन	तद्नेन
६४	२२	उपलब्धिललक्षण०	उपलब्धिलक्षण०
६५	६	व्याख्यातम् ।	व्याख्यातम् ।
६७	५	०व्यायारः	०व्यापारः
,,	१८	विशेपः	विशेषः
६८	१३	एत	एव
,,	,,	साध०	साधन
,,	१६	प्रमाणेरिति	प्रमाणैरिति
६९	११	०भावित्व०	०भावित्व०
६९	१२	०साध्यधम	०साध्यधर्म
६९	२१	कस्माद्धेतुप्रयोगः ।	कस्माद्धेतुप्रयोगः ।
७२	१४	सत्त्वनुप०	सत्त्वमनुप०
७३	६	हत्वभावेन	हेत्वभावेन
७३	२०	साध्ये न	साध्येन
७४	२	तस्मात्रिरूप०	तस्मात्त्रिरूप०
७४	११	ध्यभावे	ध्याभावे
७५	२०	भवदेवं	भवेदेवं
८०	८	साध्यत्वनैवेष्ट०	साध्यत्वेनैवेष्ट०
८०	१२	स्थितसाधन	स्थितः साधन
८५	१८	दर्शयन्नेन	दर्शयन्नेव
८६	८	०कार्याच्छद्वाज्ज्ञातं	०कार्याच्छब्दाज्ज्ञातं
८६	१७	उच्चायते	उच्चार्यते

पृ०	पं०	अशुद्धयः	शुद्धयः
८७	९	इष्टोनिराकृतः	इष्टोऽनिराकृत
८८	८	यदितच्च	यदि तच्च
८८	१२	०भास	०भासः ।
,,	,,	वा	वा ।
९१	२५	ख० प्रामाण्यं ।	ख० प्रमाण्यं ।
९३	२५	ख० गृह्यते	ख० गृह्यते ।
९६	२५	हीति यस्मात्	हीति । यस्मात्
९७	४	विरुद्धयो०	विरुद्धयो०
९८	४	विरोध	विरोध
,,	१२	बक्तव्याः	वक्तव्याः
९८	२५	३ हतुकृतं,	३ हेतुकृतं,
९९	१०	०स्त्वन्ये न्याभावा०	०स्त्वन्योन्याभावा०
१०१	१	रा	रा-
१०१	८	रागादीनां का	रागादीनां का-
१०१	१२	रागोदौ	रागादौ
१०२	२	आह ।	आह—
१०२	१२	जन्मज्ञानं	जन्म ज्ञानं
१०२	१७	सत्त्वमिति—	सत्त्वमिति
१०२	२०	पिपक्ष	विपक्ष
१०३	७	इष्टविद्यातकृत	इष्टविघातकृत्
१०३	१३	परमाणुसंचितरूपाः ।	परमाणुसंचितिरूपाः ।
१०३	१७	योगिने	भोगिनो
१०३	१८	०कृदित्याह ।	कृदित्याह–
१०३	२२	तदिष्टसं०	तदिष्टास०
१०४	१	हेतुनिपर्यय	हेतुविपर्यय
१०४	११	इत्याह ।	इत्याह—
१०४	१९	नहीष्ट०	नहीष्ट०
१०४	२०	इति	इति ।
१०६	३	पक्षधर्मस्य द्वाभ्यां	पक्षधर्मस्य च द्वाभ्यां
१०६	१२	नियमसत्तानिश्चयो	नियतसत्तानिश्चयो
१०८	१६	ननु न	ननु च
१०९	४	०यस्यभावे	०यस्याभावे
११०	१३	सपदस्त्व०	सदसत्त्व०
१११	२५	यत् , यद्विरुद्धं ।	यत्, ख० यद्विरुद्धं

पृ०	पं०	अशुद्धयः	शुद्धय·
११३	२०	यथावस्तुस्थितं	यथा वस्तु स्थितं
,,	,,	तथास्थिता	तथा स्थिता
११४	४	सर्वगत्वं	सर्वगतत्वं
,,	८	व्यक्तिरहितेषु	व्यक्तिरहितेषु
११४	२१	तत्तद्देशेसानहित०	तत्तद्देशसंनिहित०
११७	९	त्रिरूपाहेतु०	त्रिरूपा हेतु०
११७	२१	०न वस्तु०	ख० न वस्तु०
१२०	८	तेन	ते न
१२०	१४	दाहेन	दहने
१२१	१६	०नादृष्टान्तत्व०	०नादृदृष्टान्तत्व०
१२१	२१	क० प्रदशिन	क० प्रदर्शिन
१२२	१८	वचनादिनि	वचनादिति
१२३	२३	क० रागादिमत्त्वं ।	क० रागादिमत्त्वे ।
१२६	१२	नचोपदिष्टवन्तः ।	न चोपदिष्टवन्तः ।
१२७	२४	यत	यत्र
१३१	१६	सत्त्वंविपक्षे	सत्त्वं विपक्षे
१३३	८	अनुभूत०	अभूत०
,,	२५	अनश्य	अनाश्यं

विशेष-सूचना ।

हमारे यहां हर तरह की संस्कृत पुस्तकें मै भाषा टीका के हरवक्त तैय्यार रहती हैं इसके अलावे हर तरह की छपाई तथा जिल्द के बंधाई का कार्य भी होता है ।